

GOVERNMENT OF INDIA

ARCHAEOLOGICAL SURVEY OF INDIA

CENTRAL
ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY

ACCESSION NO. 36176

CALL No. 901.0954 *cha*

D.G.A. 79.

आत्माराम इन्ड संस
प्रकाशक स्वयं पुस्तक-विप्रेर्या
काश्मारी रोड, दिल्ली-५



बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक मूल्य

36178

पुस्तकालय काठमांडू



901.0954

Cha

Ref. BPa3

Cha

साहित्य मयन (प्राइवेट) लिमिटेड
इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : १९५८ ईसवी

साकेतीन श्रृंगार

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL
LIBRARY, NEW DELHI.

Acc. No. 3.6176

Date..... 30/9/62

Call No. 901. 0954 / Cha

मुद्रक : हिन्दी साहित्य प्रेस, इलाहाबाद

बौद्ध साहित्य के निष्णात पंडित
निर्वाण-प्राप्त सरेंद्रदेव जी को
जिनका संपर्क
कात्रावात-जीवन से ही मुलभ रहा



अनुक्रम

प्रस्तावना	...	१
समसामयिक दार्शनिक विचारधारा	...	६
धार्मिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियाँ	...	२८
आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति	...	४२
जातकों में सामाजिक जीवन का चित्रण	...	५१
बेरी गाथाओं में भिक्षुणी-जीवन की, कौकी	...	६८
बेर गाथाओं में भिक्षुओं के जीवन-नीति	...	८१
उदान वाले वचनों के प्रसंग	...	९७
बौराही सिद्ध और उनके संप्रदाय	...	११०
कोन संप्रदाय	...	१४४
बौद्ध धर्म की विदेश-यात्रा	...	१५३



प्रस्तावना

प्रस्तुत पुस्तक मेरे समय-समय पर लिखे कतिपय निबंधों का एक संग्रह मात्र है और इनमें से कुछ, इसके पहले, कहीं न कहीं प्रकाशित भी हो चुके हैं। इनका यहीं पर एक साथ संगृहीत किया जाना इस बात का सूचक हो सकता है कि ये न केवल किसी एक ही व्यक्ति द्वारा किये गये बौद्ध साहित्य के कुछ अंशों के अध्ययन के परिणाम स्वरूप हैं, अपितु, प्रायः इन सभी के भीतर देखने से, लगभग एक ही या कोई अंतःस्रोत भी प्रवाहित होता जान पड़ सकता है। यह अध्ययन अधिकतर ऐतिहासिक दृष्टि से किया गया है और, ऐसा करते समय, सबसे अधिक महत्व सांस्कृतिक विषयों को ही देने की चेष्टा की गई है। फिर भी प्रत्येक निबंध दूसरे से पृथक् और स्वतंत्र है, जिस कारण एक ओर जहाँ, साधारणतः कोई एक दूसरे का पूरक नहीं कहला सकता वहाँ, दूसरी ओर इनमें द्विक्रि भी आ गई हो सकती है।

‘संस्कृति’ शब्द ‘सम्’ उपसर्ग पूर्वक ‘कु’ धातु से बना है और इसके द्वारा ‘विशुद्ध, परिष्कृत या परिमार्जित करने का भाव’ सूचित होता है। यद्यपि इस अर्थ में यह प्रयोग बहुत पुराना नहीं है। इसी उपसर्ग एवं इसी धातु के आधार पर ‘संस्कृत’ शब्द भी बना है जिसका अर्थ ‘शुद्ध वा परिष्कृत किया गया’ है तथा एक अन्य शब्द ‘संस्कार’ भी है जिसके अर्थ ‘धार्मिक कृत्य’ एवं ‘प्रभाव’ होते हैं। परंतु ‘संस्कृति’ शब्द आजकल अपना एक पारिभाषिक रूप भी ग्रहण कर चुका है और तदनुसार, इसके अभिप्राय में अधिक व्यापकता एवं विविधता भी आ गई है। आजकल यह अंग्रेजी शब्द ‘कल्चर’ का समानार्थक समझा जाता है जिसका मौलिक अर्थ जहाँ, ‘कृषि के उद्देश्य से भूमि की प्राकृतिक अवस्था को परिष्कृत करना’

है वहाँ, उसी भावना के अनुसार, 'मानवीय सहज वृत्तियों वा अंतर्निहित शक्तियों को परिमार्जित करना' भी हुआ करता है। अतएव, 'संस्कृति' शब्द, किसी व्यक्ति के पक्ष में, बहुधा उसकी शिष्टता, सौम्य अथवा मानवता का बोधक होता है और इन गुणों द्वारा उसकी किसी ऐसी स्थायी मनोवृत्ति वा ऐसे शील का पता चलता है जिसके कारण वह समाज में स्वभावतः उच्चकोटि का गिना जाता । इसी प्रकार वही शब्द, किसी समाज विशेष के पक्ष में, उसके उन विशिष्ट गुणों का भी बोधक माना जाता है जो, न केवल उसके उदात्त उद्देश्य, उसकी शान-गरिमा, उसके कला-चातुर्य, उसकी भाव-प्रवणता तथा उसके विचार-स्वातंत्र्य को प्रकट करते, प्रत्युत, जिनके आधार पर, उसके सदस्यों में भावु-भाव, सहानुभूति एवं सहयोगिता की जैसी शार्दिक वृत्तियाँ भी सञ्चित हुआ करती हैं। 'सम्यता' शब्द बहुधा केवल उन बाह्यगत किया-कलापों अथवा उन विविध वस्तुओं की ओर ही इंगित करता है जिन्हें हम संस्कृति के परिणाम स्वरूप मान सकते हैं। अतएव, हम इतना और भी कह सकते हैं कि 'संस्कृति' शब्द समाज-सापेक्ष होने के नाते वहाँ, किसी समाज-विशेष की मानसिक वा बौद्धिक उन्नति का कोई न कोई स्तर बतलाता, वहाँ 'सम्यता' शब्द उसके भौतिक विकास की ऐसी किसी इयत्ता की ओर निर्देश करता जिसके आधार पर हम उसकी तुलना, प्रायः, अन्य समाजों के साथ किया करते । 'संस्कृति' एवं 'सम्यता' शब्दों को कभी-कभी समानार्थक मानकर उनके प्रयोग किये जाते हैं तो कभी-कभी उनके द्वारा सूचित विषयों में कार्य-कारण सम्बंध भी स्थापित कर दिया जाता है और इस प्रकार की धारणा इदं मूल बन गई है कि इन दोनों में से किसी एक को हम दूसरे से कभी भ्रूयक नहीं कर सकते। इस कारण, प्रस्तुत पुस्तक के शीर्षक में प्रयुक्त 'सांस्कृतिक' शब्द के अर्थ की व्यापकता पर विचार करते समय, इस बात को ध्यान में रख लेना आवश्यक हो सकता है।

इसी प्रकार बौद्ध साहित्य भी अत्यंत विस्तृत एवं महान् । और इसके अंतर्गत विभिन्न भाषाओं तथा देशों के एक से एक विशाल ग्रन्थों की गणना की जा सकती है, इसके सिवाय इस अपूर्व वाङ्मय ■ ऐसे अनेक विषयों का भी समावेश है जिनके कारण, वहाँ आश्चर्यजनक वैविध्य का भी एक प्रश्न उपस्थित हो जाता है । साहित्य के इतिहासकारों ने इसके विविध अंगों का वर्गीकरण केवल स्थूल रूप से ही किया है और कभी-कभी तो उनके भीतर भी केवल एक ही प्रमुख विषय, बुद्ध-वचन तथा बुद्ध-जीवनी से सम्बद्ध विचार-धारा के व्यापक स्रोत का ही सब कहीं प्रवाहित होना देखा है जिस दशा में, किसी वास्तविक विविधता का कोई विचार ही नहीं किया जा सकता । परंतु ■ किसी साहित्य की सच्ची महानता केवल इसी बात में परखी जा सकती है कि उसके वर्ण्य विषयों की संख्या अधिक है ? क्या किसी एक ही सर्वांगीण महत्त्व के विषय का अध्ययन विभिन्न दृष्टियों से तथा विभिन्न रूपों में नहीं किया जा सकता, न इस प्रकार, उसके अंतर्गत सारे जीवन की विविधता लायी जा सकती है ? बौद्ध साहित्य का मूल विषय अवश्य वस्तुतः एक है, किन्तु, उसके पूर्ण अनुशीलन के व्याज से जो उसमें विचित्र बहुरंगीनता आ गया है वह, कदाचित्, अन्यत्र दुर्लभ है । बौद्ध साहित्य में जितना विषय का वस्तुगत विस्तार नहीं, उतना व्याख्यात्मक वैविध्य दृष्टिगोचर होता है जिसका अपना एक पृथक् मूल्य ही आँका जा सकता ■ । प्रस्तुत पुस्तक में संग्रहीत निबंधों के अंतर्गत उसके केवल अत्यंत अल्प अंशों का ही ■ उपयोग किया जा सका है । इसी कारण, इसके शीर्षक में आये हुए 'बौद्ध साहित्य' द्वारा उस वाङ्मय के किसी सर्वांगपूर्ण अध्ययन का कोई प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता ।

इसमें संग्रहीत निबंधों में से प्रथम तीन का सम्बंध भगवान् बुद्ध के युग तथा उनके समकालीन सामाजिक वातावरण से है । उनका आधार केवल बौद्ध साहित्य ही नहीं, प्रस्तुत अनेक ऐसी अन्य सासग्रियाँ भी

हैं जिनसे उसका समर्थन होता है तथा जिनके द्वारा वस्तु विषय का और भी अधिक स्पष्टीकरण हो जाता है। इसके विपरीत उनके आगे वाले चार निबंध केवल बौद्ध साहित्य पर ही आश्रित हैं और इसमें संदेह नहीं कि पुस्तक के शीर्षक की दृष्टि से केवल ये ही चार उसके सर्वथा उपयुक्त हैं। इसी प्रकार बौद्ध सिद्धों का परिचय देने वाले आठवें निबंध से यह पता चलता है कि भारतीय इतिहास के पूर्वमध्यकाल का आरंभ होने के समय तक बौद्ध धर्म और उसकी परंपरा ने यहाँ पर कौन सा रूप ग्रहण कर लिया था तथा उसके सांस्कृतिक परिवर्तन की संभावनाएँ क्या हो सकती थीं। पुस्तक में संश्लेषित अंतिम दो निबंधों द्वारा हमें बौद्ध संस्कृति के रूप का कुछ आभास मिल जाता है जो किसी-किसी प्रकार किये गए प्रचारों द्वारा विभिन्न दूर देशों तक जा पहुँची और जो वहाँ के धार्मिक, सामाजिक एवं राजनीतिक प्रभावों के संघर्ष में आते रहने पर भी, अपने मूल रूप का परित्याग बहुत कम कर सकी। इन दोनों निबंधों में ऐतिहासिक विवरण को अधिक स्थान मिला है, तदनुसार वहाँ सांस्कृतिक तत्त्वों का केवल एक सांकेतिक परिचय ही उपलब्ध है। किन्तु नवें निबंध के अंतर्गत, जिस 'जैन' सम्प्रदाय का वर्णन आया उसका, कई दृष्टियों से भी, एक विशेष महत्त्व हो सकता है।

बौद्ध साहित्य के अंतर्गत किसी एक विशिष्ट धर्मादर्य एवं धर्मोपदेश की अभिव्यक्ति दील सकती है और उसका रूप, स्वभावतः, आत्मशुद्धि है। परंतु इसका अर्थ यह नहीं कि भारतीय सांस्कृतिक विकास के इतिहास में भ्रमण-संस्कृति किसी सर्वथा नवीन संदेश के साथ आती है। इसकी परंपरा का मूल स्रोत किसी ऐसी प्राचीन स्थिति की ओर संकेत करता है जो, कदाचित् वैदिक युग के भी पहले की हो सकती है और जिसका क्रमिक विकास, भगवान् बुद्ध के समय तक, बराबर होता आया है। सिद्ध-सम्भवा-सम्बंधी अवशिष्ट

विश्वों द्वारा इस विषय पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है और वैदिक साहित्य से भी पता चलता है कि किस प्रकार तपश्चर्या की साधनाओं द्वारा मृत्यु पर विजय पा लेने की चेष्टा की जाती थी^१ तथा, ब्रह्म-लोक की कामना करते हुए, लोग बार-बार ब्रह्म प्रपन्था ग्रहण करते एवं भिक्षाचर्य में प्रवृत्त हो जाया करते थे।^२ भगवान् बुद्ध के युग में इन बातों का बहुत अधिक प्रचार था और तदनुकूल आचरण करने वाले विविध संप्रदायों तक की सृष्टि हो गई थी। समय इसका अस्तित्व, केवल अपवाद रूप में न रहकर किसी कैते व्यापक नियम का पोषण करने लग गया था और तत्कालीन समाज के लिए यह उसकी एक विशेषता तक भी बन गया था। आभक्षिक व्यवस्था आकर्षण उन दिनों इतना प्रबल था कि एक दूसरे दुष्ट व्यवहार से ऊब गये हुए, पति वा पत्नी एक साधारण से संकेत पर भी सह-त्याग कर बैठते थे और बनों में जाकर तपश्चर्या ग्रहण या भिक्षु-संघों में प्रवेश कर भर्माचरण की ओर प्रवृत्त हो जाया करते थे। फिर तो “राजा का दास भी यदि वह भिक्षु बन कर काषाय चीवर पहन ले और थोड़े से भोजन, आवास और एकलत जीवन से संतुष्ट रहे तो राजा उसके लिए भी संमानित स्वागत, चीवर, पात्र, आभरण, भक्षण एवं रक्षा की व्यवस्था करेगा।”^३ हम देखते हैं कि जिस भिक्षु-संघ को इस हिंदू समाज के चौथे आभय संस्थापक का उच्च स्थान, स्वभावता दे सकते उसका रूप कभी-कभी किसी सामान्य जन-वर्ग से अधिक भिन्न प्रतीत नहीं होता था और उसके सदस्यों में प्रायः मानसिक एवं नैतिक दुर्बलताओं के साधारण

१. अथर्ववेद (४-३-३५)।

२. बुद्धचरितम् (४-३-३२)।

३. डॉ० राधाकृष्णन द्वारा : ‘सायबान’ (१-३७) हिन्दू सम्प्रदाय, पृष्ठ २२० पर उद्धृत।

उदाहरण तक मिल जाया करते थे। 'उदान' के कतिपय प्रसंगों एवं
 घेर तथा घेरी गाथाओं की एकाध कथाओं से भी हमें इस बात की
 पुष्टि होती जान पड़ती है।

भगवान् बुद्ध का जीवनादर्श अत्यंत मध्य और उदात्त है तथा
 उनके अनुपम व्यक्तित्व का सुंदर प्रभाव भी जन-साधारण पर बिना
 पड़े नहीं रह सकता और यह बात बौद्ध धर्म के कथा-साहित्य का
 अध्ययन करने वाले प्रत्येक पाठक के सामने उसके पृष्ठ-पृष्ठ पर
 प्रमाणित होती जान पड़ती है। अतएव, कुछ लोगों की समझ में
 यह एक स्वाभाविक प्रश्न उठ [] है कि वे सारी बातें लोक-
 जीवन के स्तर तक कभी क्यों न पहुँच पाईं, क्यों नहीं उनके आधार
 पर कभी किन्हीं लोक-गीतों का निर्माण हुआ, क्यों न कभी उनके
 विविध मनोरम दृश्यों को किन्हीं लोक-नाट्यों में स्थान दिया गया
 तथा क्यों न उनके प्रसंगों की प्रेरणा में कभी किन्हीं लघु-कथाओं
 या कहानियों की [] सृष्टि की गई? इसका एक सीधा-सादा उत्तर
 तो इस प्रकार दिया जा सकता [] कि यह कथा-साहित्य स्वयं लोक-
 जीवन के स्तर से [] भी दूर नहीं है। इसकी मूल-भाषा वाली
 कभी लोक-भाषा के पद पर आसीन रही है, इसमें लोक-गीतों का
 स्वर स्पष्ट सुन पड़ता है, यह पहले मौखिक साहित्य के रूप में ही
 प्रचलित था तथा इसके रचयिताओं का कहीं पता भी नहीं चलता।
 इसे, इसके वर्तमान संशुद्धित, अनुवादित एवं प्रकाशित रूप में,
 देखकर हमें सहसा इसका मूल रूप विस्मृत हो जाया करता है।
 इसके सिवाय जिन लोक-गीतों आदि से हम आजकल परिचित हैं
 वे प्रायः प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हैं जिनका उदयकाल साधा-
 रणतः, हमारे इतिहास [] पूर्वमध्यकाल से, कभी पहले नहीं पड़ता
 और संयोगवश यही वह युग भी ठहराया जा सकता है, जब बौद्ध
 धर्म का यहाँ प्रत्यक्ष हाथ दीख पड़ने लगा था और जब उस सारी
 बातों के क्रमशः लुप्त होते जाने की ही अधिक संभावना थी। [] जिन

तमिल प्रांत जैसे एकादश प्रदेशों की भाषा अधिक प्राचीन है तथा बंगाल एवं उत्कल जैसे कुछ प्रांतों में बौद्ध धर्म का प्रभाव किंचित् पीछे तक भी बना रहा वहाँ की प्रादेशिक भाषाओं के पुराने साहित्य में हमें बौद्ध धर्म एवं साहित्य-सम्बंधी सामान्य बातों का कभी सर्वथा अभाव नहीं दीख पड़ता।)

पुस्तक में संयोजित निबंधों के लिखने में गिन विद्वानों की रचनाओं से सहायता ली गई है उनका मैं आभार स्वीकार करता हूँ और, इन्हें संयोजित करते समय जो बहुमुख्य सुझाव मुझे अपने अनुब भी नर्मदेश्वर चतुर्वेदी से मिले ■ उनके विषय में भी यहाँ चर्चा कर देना अपना कर्तव्य समझता हूँ। पुस्तक में मुद्रित 'प्रवक्ष्या' तथा पद्य को सुभी पाठक सुभार ■ 'प्रवक्ष्या' और पद्य पढ़ने की कृपा करें।

इच्छिषा

१५ अगस्त, १९५८

परशुराम चतुर्वेदी



समसामयिक दार्शनिक विचारधारा

गौतम बुद्ध का आविर्भाव-काल, जिसे स्थूल रूप में हम ईसापूर्व षष्ठी शताब्दी का समय भी कह सकते हैं, विभिन्न विचारधाराओं की उषल-पुषल का युग था और उसमें विशेषकर धार्मिक एवं दार्शनिक मतों के अनेक आंदोलन भी काम कर रहे थे। उससे लगभग एक शताब्दी पूर्व अर्थात् मिलेटस निवासी डेलिख (सन् ६२४ ई० पू०) के जीवन-काल से ही सुदूर पश्चिम के यूनान देश में जगत् के मूलधार का अन्वेषण-कार्य आरंभ हो चुका था और बहुत से चिंतनशील व्यक्ति सृष्टितत्त्व से लेकर कार्य-कारण सम्बंधी नियम एवं "संघातवाद" आदि जैसे विविध प्रश्नों की छानबीन में प्रवृत्त होते जा रहे थे। उस समय तक ईरान ■ महात्मा जरयुस्त्र के अनुयायियों ने परमतत्त्व के इष्टानिष्ठ परक इन्द्रात्मक रूप का समाधान आरंभ कर दिया था। संभवतः चीन देश में भी लाओत्से (सन् ६०४-५१४ ई० पू०) तथा उसके सहयोगी किंही "ताओ" के प्रतिपादन एवं प्रचार में लगे हुए ■। गौतम ■ के समकालीन समके जाने वाले यूनान के ही पाइथागोरस (सन् ५८२-५०६ ई० पू०) ने आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार किया, परमेनाइडीज (सन् ५१५ ई० पू० ने) अपने आदर्शवाद की नींव डाली तथा सोफी प्रोटागोरस (सन् ५००-४६० ई० पू०) आदि ने अपनी तर्क-प्रणाली का प्रचार किया जिसका एक विशिष्ट परिणाम प्रसिद्ध महापुरुष सुकराट (सन् ४७३-३९९ ई० पू०) की विचारधाराओं में देख पड़ा और चीन के कनफ्यूसियस (सन् ५५१-४७९ ई० पू०) ने भी नैतिक-जीवन सम्बंधी विचार-मदति को दिया जो, उसके अनुयायी मेनसियस (सन् ३७१-२८९ ई० पू०) द्वारा पुष्टि पाकर, पीछे और भी सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित हुई। उस काल के विचारशील

अपने केवल अपने निजी अनुभवों के ही बल पर नवीन उद्भावनाओं को जन्म देते थे, प्रत्युत वे परंपरागत बातों की समीक्षा करने से भी नहीं चूकते थे। इस प्रकार विभिन्न निचारधाराओं के आलोचन-विलोचन द्वारा महीं एक ओर बहुत से नवीन दार्शनिक मतवाद अपना स्वरूप ग्रहण करते जा रहे थे वहाँ दूसरी ओर प्राचीन स्थापनाओं का विकास वा परिष्कार भी होता जा रहा था।

स्वयं भारतवर्ष की विचार-परंपरा के इतिहास का अध्ययन करने पर भी पता चलता कि यहाँ पर उक्त की प्रवृत्तियाँ प्राचीन वैदिक युग से ही काम करती आ रही थी और आध्यात्मिक विषयों से सम्बंध रखने वाले विविध प्रश्नों-तत्त्वों के आधार पर, कई उपनिषदों की रचना भी हो चुकी थी। गौतम के आधिर्भाव-काल में निमित्त हो चुके विशाल भारतीय साहित्य का एक बहुत बड़ा अंश हमें ऐसे प्रश्नों के समाधानों से ही भरा मिलता जो जिज्ञासुओं द्वारा इरयमान जगत् की सृष्टि, उसके आधारभूत परमतत्त्व, मानव जीवन के रहस्य आदि जैसी जटिल समस्याओं के विषय उठाये गये और जिन्हें उद्देश्य करके विचारकों ने बहुधा स्वानुभूतिपरक उत्तर दिये। "मन किसके द्वारा प्रेरित होता है? किससे होकर प्राण गमन करता है? किसकी प्रेरणा से वाणी का स्फुरण होता है? अथवा हमारे नेत्र एवं श्रोत्र अपने-अपने कार्य में लगा करते हैं?" तथा "हम जिसकी उपासना करते वह यह कौन है जिसकी प्रेरणा से प्राणी देखता है, सुनता संवता है। वाणी का विश्लेषण करता अथवा स्वादु-अस्वादु ज्ञान प्राप्त करता है?" और, इसी प्रकार, "जगत् का कारणभूत कैसा है? हम किससे उत्पन्न हुए हैं? किसके द्वारा जीवित रहते हैं? कहाँ पर स्थित हैं? और किसके द्वारा सुख-दुःख में प्रेरित होकर हम संसारस्थाना

का अनुवर्तन करते ।^१ आदि कुछ ऐसे प्रश्न हैं जो निमित्त रूपों में अनेक स्थलों पर दिये गए पाये जाते हैं और सद्गुणार वहाँ पर “काल स्वभाव नियति, यद्वच्छा, भूत एवं पुरुष जैसे कारणों के आधार पर किया गया सुंदर विवेचन भी मिला करता है।”^२ इसके अतिरिक्त उक्त साहित्य के अंतर्गत, ऐसे वाक्य भी प्रचुर मात्रा में मिलते हैं जिनमें परंपरागत बातों के प्रति अनास्था प्रकट ■ गई है। उदाहरण के लिए, यदि कहीं परमार्थ-प्राप्ति के साधन की दृष्टि से यह विधानों की असमर्थता प्रदर्शित की गई है^३ तो अल्पतः उसके लिए केवल सर्क-वितर्क, बुद्धि अथवा वेदादि के अध्ययन द्वारा ■ पांडित्य को भी अपर्याप्त ठहराया गया है^४। अतएव, इस प्रकार का अनुमान कर लेना कदाचित् अनुचित न कहा जाय कि जैसे प्रश्नों को उठाना, उन पर स्वतंत्र विचार ■ करना और विभिन्न मतवादों की सृष्टि करना, उन दिनों के लिए एक सामान्य सी बात रही होगी और प्रायः सभी सम्प्रदायों में यह प्रवृत्ति लगभग एक ही ढंग से काम करती होगी।

भारतवर्ष में ■ दिनों तक, बहुत पहले से ही दो विभिन्न संस्कृतियों के उदाहरण प्रायः समानांतर में लक्षित होते आये थे। उनमें से एक भ्रमण-संस्कृति कही जाती है और दूसरी को वासव्य-संस्कृति ■ नाम से अभिहित किया जाता है। वासव्य-संस्कृति के लोग अधिकतर ग्रहवासी रहा करते ■, गार्हपत्य जीवन व्यतीत करते थे। उन्हें सामाजिक व्यवस्था पसंद थी और इस दृष्टि से वे बहुत कुछ सांसारिक भी ■, जहाँ भ्रमण वर्ग वालों के लिए अपने पारिवारिक जीवन का परित्याग करके भ्रमणशील बना रहना और प्रत्येक प्रकार की सांसारिकता के प्रति उपेक्षा का भाव प्रदर्शित करना एक साधा-

१—श्वेताश्वतरोपनिषद् (१-१)

२—वही, (१-२)

३—मुण्डकोपनिषद् (१-२-७)

४—वही, (३-२-३)

रथ सी बात थी। ऋषय-संस्कृति वाले प्राचीन वैदिक परंपरा के अनुगामी थे, यज्ञयागादि को महत्व देते हुए मंत्र, होम, जप एवं विविध अनुष्ठानों में लगे रहते । उन्हें जगत् के सृष्टिकर्ता और संभालक में भी किसी न किसी प्रकार की आस्था बनी रहती थी, जहाँ धर्म-संस्कृति के लोग वेदों का प्रमाण्य स्वीकार नहीं करते थे, उन्हें कर्मकाण्ड की बातें निरर्थक और अनावश्यक प्रतीत होती थीं। यतिधर्म एवं तपश्चर्या में निरत रहना वे अधिक भयंकर समझते थे और उनके यहाँ किसी ईश्वर का प्रश्न भी खड़ा उठने महत्व का नहीं था। दोनों ही संस्कृतियों प्राचीन हो चली थीं जिस कारण उनके द्वारा प्रभावित व्यक्तियों में बाह्याचार, बाह्यांबर आदि शुष्क विलासात की प्रवृत्तियों का क्रमशः प्रवेश कर जाना आभासिक नहीं था। इसीलिए उनके पारस्परिक मतभेद की आभा अधिक बढ़ चुकी थी तथा उनमें एक बिलक्षण वादप्रियता भी आ गई थी जिसका परिणाम विभिन्न संप्रदायों के प्रचार में दीप्त पड़ता था। परस्पर-विरोधी मत वाले एक दूसरे की विचारधारा को निम्न एवं ह्य समझा करते थे और उसके अनुयायियों को प्रायः “नास्तिक” भी ठहराते थे जिससे इस शब्द का अभिप्राय सर्वत्र एक ही स्वीकार नहीं किया जाता था, न इसी प्रकार सब नहीं “आस्तिक” शब्द का ही अर्थ एक था। फिर भी अधिकांश मतवाले बहुधा उसी को नास्तिक मानते थे जो परलोक एवं कर्मवाद को विचार नहीं करता था।

यहाँ पर यह बात भी उल्लेखनीय है कि उक्त प्रकार की बातों का विशेष प्रचार भी मगध देश की ओर ही था जिसके निकटवर्ती क्षेत्र में गौतम बुद्ध का जन्म हुआ और जिसे उन्होंने तथा उनके सम-सामयिक एक दूसरे महापुरुष महावीर ने भी अपने मतों का प्रचार केन्द्र बनाया। वह प्रदेश जनक, याज्ञवल्क्य, आदि के समय अर्थात् उपनिषद् काल से ही, आध्यात्मिक एवं रहस्यमयी बातों पर विचार-

विनिमय करने तथा परंपरागत वैदिक यज्ञयागादि की अपेक्षा शान्त-कायक को अधिक महत्व देने वालों की कर्मभूमि रह चुका था। इसलिए, हमें आश्चर्य नहीं कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल तक वहाँ विचार-स्वातंत्र्य को पूर्ण रूप दिया जाने लगा हो। इसके परिणामस्वरूप, उस ओर ऐसे अनेक विविध मतवाद भी प्रचलित हो गए हैं जिन्हें उन्होंने मिथ्या दृष्टि का नाम दिया है। “ब्रह्मजाल मुक्त” के अंतर्गत जो “दीर्घनिकाय” के “सौलवसम्भ वग्ग” में संग्रहीत है ऐसी ६२ मिथ्या दृष्टियों के नाम आ गये हैं। “ब्रह्मजाल” शब्द का अभिप्राय ही कदाचित् उस ‘भेष्ठजाल’ से जो के महान उपदेशों द्वारा बुना गया है और जिसका प्रमुख उद्देश्य बहुधा “किसका कर निकल जाने वाली मछलियों रूपी मिथ्या दृष्टियों को पकड़ना” है। “ब्रह्मजाल मुक्त” में यद्यपि उक्त बातों का पूरा विवरण नहीं दिया गया है केवल उनकी ओर इत प्रकार संकेत कर दिया गया है जिससे उनमें निहित प्रमुख प्रवृत्तियों का न कुछ पता जाता है।

“ब्रह्मजाल मुक्त” में कहा गया है कि उपर्युक्त ६२ मिथ्या दृष्टियों में से १८ का सम्बंध जीवन एवं जगत् के आदि या आरम्भ से था वहीं शेष ४४ उन्हीं विषयों के अंत या अंतिम परिणाम की चर्चा किया करती थीं। संक्षेप में मतलाया जा सकता है कि जीवन एवं जगत् के आदि से सम्बंध रखने वाली १८ मिथ्या धारणाओं को भी कम से कम पाँच भागों में विभक्त कर सकते हैं और उन्हें क्रमशः (१) शाश्वतवाद (२) नित्यता-अनित्यता वाद (३) सांत-अनंत वाद (४) अमराविच्छेद वाद और (५) अकारण वाद के नाम दे सकते हैं। इन्हें १८ इसलिए उहराते थे कि इनमें से प्रथम चार में से प्रत्येक की सिद्धि के लिए चार-चार हेतु दिये गए थे, वहीं अंतिम अथवा अकारण वाद के लिए केवल दो हेतु आवश्यक थे। इसी प्रकार उक्त ४४ मिथ्या धारणाओं से तात्पर्य यह था कि उनमें से कुछ नाशक-

भ्रमण को १६ प्रकार के हेतुओं के आधार पर, यह स्वीकार करते थे कि मृत्यु के अनंतर भी आत्मा संज्ञी (अर्थात् अपने अस्तित्व का भान रखने वाला) रहता है।^१ जहाँ कुछ लोग ८ हेतुओं के आधार पर मानते थे कि वह सर्वथा “असंज्ञी” वा बेहोश बन जाता है। फिर कुछ लोग ८ विभिन्न हेतुओं के आधार पर भी स्वीकार करते कि मृत्यु के अनंतर वह न केवल संज्ञी रहा करता है, अपितु असंज्ञी भी बन जाता है अर्थात् दोनों प्रकार के प्रमाण होने से उन्हें दोनों ही दृष्टाएँ एक साथ स्वीकृत थीं। इसके विरुद्ध कुछ लोग “उच्छेदवादी” हुआ करते थे जो ७ हेतुओं के आधार पर आत्मा के पूर्ण उच्छेद अभाव के समर्थक थे। परंतु कतिपय अन्य विचारकों की यह भी धारणा थी कि ५ हेतुओं के आधार पर आत्मा का इसी में निर्वाण वा मोक्ष पा जाना असंभव नहीं। “ब्रह्मज्ञान युक्त” के अंतर्गत हमें उपर्युक्त ६२ प्रकार के मतों में से किसी का ऐसा विवरण नहीं मिलता जिसके आधार पर हम, उसके वास्तविक रूप में विद्यमान रहने के विषय में कोई निश्चित अनुमान कर सकें अथवा ऐतिहासिक प्रमाण प्रस्तुत कर सकें। अतएव, डा० टामस की धारणा है, “हमें कुछ भी संदेह नहीं किया जा सकता कि उनमें से बहुत से मत ऐसे भी थे जो वस्तुतः कभी भी किसी को माय्य नहीं थे, प्रस्तुत थे केवल ऐसी संभाव्यताएँ मात्र ही थीं जिन्हें उक्त जाल को पूरा करने के उद्देश्य से, औरों के साथ जोड़ दिया गया था।”

फिर भी, ५ प्रकार से की गई विभिन्न मतों की चर्चा हमें जैन ग्रन्थों में भी दीख पड़ती है और “सूत्र कृतांग” में उनकी संख्या ३६३ तक आ गई। वहाँ पर स्व-सिद्धांत, पर-सिद्धांत, स्व एवं पर

1. Dr. Edward J. Thomas : The History of Buddhist Thought (Routledge and Kegan Paul Ltd., London, 1951) p. 77

सिद्धांत, जीव, अजीव, जीवाजीव, लोक, अलोक, लोकालोक आदि का वर्णन करते समय क्रियावादियों के १८०, अक्रियावादियों के ८४ अज्ञानवादियों के ६७ और विनयवादियों ३२ मतों का उल्लेख पाया जाता है। इन्हें वहाँ अन्य दृष्टि अर्थात् महावीर के सिद्धान्तों का विरोधी माना गया। और इनका निराकरण करके स्वमत की स्थापना की गई।^१ इनमें से कई ऐसे हैं जो वस्तुतः प्रचलित जैन सिद्धांत से अधिक भिन्न नहीं प्रतीत होते और के पारस्परिक भेद का स्पष्टीकरण सरल नहीं है। इसके अतिरिक्त “ब्रह्मजाल मुक्त” में बतलायी गई मिथ्या दृष्टियों के साथ तुलना करने पर, पता चलता है कि उसके बहुत से मत यहाँ पर अन्य नामों के साथ आ गए हैं तथा कई। यहाँ पर कतिपय भेद-प्रभेद भी गिना दिये गए हैं। उन सभी का यथेष्ट परिचय यहाँ पर भी हमें उपलब्ध नहीं होता, न इनके आधार पर भी, हमें उस काल की दार्शनिक वा भासिक स्थिति का स्पष्ट चित्र प्रस्तुत करने में पूरी सहायता ही मिल पाती है।

“सूत्रकृतांग” में उल्लिखित ३६३ ‘अन्य दृष्टियों’ में से का संक्षिप्त आभास हमें इन संकेतों द्वारा मिल सकता है, जैसे, “कुछ लोगों के मतानुसार आत्मा केवल पंच भौतिक पदार्थों अर्थात् पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं आकाश का एक विकसित रूप है और वह इनके विघटन के साथ ही नष्ट हो जाया करता है। कहना था कि बुद्धि तत्त्व विश्व के अंतर्गत, विभिन्न रूपों में व्यक्त हुआ करता है। कुछ लोग मानते कि आत्मा एक छटा तत्व है और उनकी धारणा थी कि जगत् एवं आत्मा दोनों ही नित्य है तथा वे नियतिवाद के नियमों को भी स्वीकार करते थे। दूसरे लोगों का वर्ग पंच स्कंधों में विश्वास करता था और इन्हें न वो परस्पर एक दूसरे

१. मोहन लाल दली चंद देसाई : जैन संहितानो संक्षिप्त इतिहास (भी जैन श्वेतांबर कान्करेंस आकिस, मुंबई, १९३१), पृ० २१

से मित्र, न शत्रु, न एक दूसरे द्वारा निर्मित न अनिर्मित की मानता । कुछ लोग क्लेश को न तो किसी के लिए आत्म-अन्य मानते थे, न उसे पर-जन्य ही ठहराते थे, प्रत्युत उसे निरे संयोग द्वारा उत्पन्न हुआ स्वीकार कर लेते थे । दूसरे लोग संदेह के बाहर की बातों में तो संदेह किया करते थे, किंतु वस्तुतः संदिग्ध बातों में कोई संदेह नहीं करते थे । फिर अम्य-लोग 'अज्ञेयवादी' कहे जा सकते थे जो किसी भी बात को निश्चयपूर्वक नहीं स्वीकार करते । इसी प्रकार कुछ लोग सृष्टि का कर्ता देवताओं को मानते थे, कुछ उसे निर्मित माना करते थे । कुछ ईश्वर कृत समझते तथा दूसरों का ऐसा विश्वास था कि वह 'प्रधान' का परिणाम ।^१ इसी के अनुसार, हम आत्मा, सृष्टि एवं नैतिक नियमों वाले बहुत से अम्य मतों की भी कल्पना कर सकते हैं, यद्यपि केवल इतने ही आधार पर, हम उनका कोई सर्वांगीण परिचय भी उपलब्ध नहीं कर सकते । वास्तव में, "प्रज्ञाजाल मुक्त" अथवा "सूक्तहतांग" के अंतर्गत जिन भिन्ना दृष्टियों अथवा अम्य दृष्टियों की चर्चा एवं परीक्षा की गई दीख पड़ती है, वे क्रमशः प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन एवं जैन दर्शन की आलोचनात्मक दृष्टियों से देखे गये अपने विपक्ष के मतवाद थे, भिनका, उन दिनों, कहीं न कहीं म्यूनाभिक प्रचार था और जिनके ऊपर पहले ध्यान दे लेने की प्रवृत्ति स्वभावतः जा सकती थी ।

"दीप निशाय" के "सीलकल्लभ वग्ग" में ही संघहीत 'सामक फल सुत्त' (भामण्य फल सूत्र) से पता चलता है कि मगध के राजा अजातशत्रु ने जब अपने पिता का वध कर डाला तो उसे अपने दुश्मनों के लिए चोर परवाताप हुआ । इसीलिए वह उन दिनों के प्रसिद्ध आचार्यों वा उपदेशकों के निकट इस उद्देश्य से गया कि

उसे धित-शक्ति की उपलब्धि हो और सबके पीछे ■ इसके लिए भगवान् ■ के पास पहुँचा। इस कारण उस ग्रन्थ में प्रसंगवश उन छह प्रसिद्ध आचार्यों ■ उल्लेख ■ा गया है जिनके नाम (१) पूरण ■ (पूर्ण कश्यप) (२) मंखलि गोसाल (मंखरी गोसाल) (३) अजित केश कम्बलि (अजित केश कम्बलि) (४) पञ्च कच्चा-यन (पञ्च कात्यायन), (५) संजय बेलडिपुत्त (संजय बेलडि पुत्त) और (६) निगयठ नाटपुत्त (निर्ग्रन्थ शातपुत्त) ये और जो संभवतः 'सिद्धिपय' भी कहलाते थे। इन छहों के लिए कहा जाता है कि वे सभी गौतम बुद्ध से अयस्या में बड़े थे। इन्होंने अपने प्रचार-कार्य द्वारा, न्यूनाधिक संख्या में अनेक अनुयायियों को एकत्र कर लिया था। इनका, उन दिनों, बहुत ■ समकालीन जनता पर भी प्रभाव था। इनमें से छहें अर्थात् निगयठ नाटपुत्त तो स्वयं तीर्थ-कर महावीर ही थे जो जैन धर्म के प्रसिद्ध प्रवर्त्तकों में २४वें समके जाते हैं। मंखलि गोसाल के लिए कहा जाता है कि वे पहले इन्हीं के अनुयायी बन गए थे। इनके कैवल्य से सोलह वर्ष पहले मरे भी थे और स्वयं इनका (महावीर का) देहांत भी, बुद्ध महानिर्वाण ■ बहुत ■ पहले ■ तथा पूरी प्रसिद्धि पाकर हुआ था।

बुद्धघोष की "सुसंगल विलासिनी" नामक रचना से पता चलता ■ कि पूरण कश्यप एक दास-पुत्र ■ जो उपयुक्त अवसर पाकर अपने स्वामी के घर से भाग निकले थे और जो मार्ग में चोरों द्वारा अपने कपड़े छीन लिये जाने के कारण, एक गाँव में दान रूप में ही पहुँचे थे। फिर भी, लोगों के पूछने पर इन्होंने अपना नाम 'पूरणकश्यप बुद्ध' बड़े गर्व के साथ बतलाया था और इस नाम की ध्यात्वा भी कर दी थी। इनका अंत में, जल-समाधि लेकर अपना माण्य-विसर्जन करना प्रसिद्ध है। पूरण कश्यप के मत को 'अक्रियावाद' कहा गया है और बतलाया गया है कि राजा अजातशत्रु हाथ पूछे जाने पर इन्होंने एक ऐसे मत का प्रतिपादन किया था जिसके अङ्गभेद अज्ञान

पाप-पुण्य का फल मानना सिद्ध नहीं है। इनका कथन था “कर्म-करते-कराते, छेदन करते-कराते...प्राण लेते, चोरी करते, सेंच लगाते, गाँव लूटते, बटमारी करते, पर-छी गमन करते, झूठ बोलते, कोई पाप नहीं किया जाता। छूरे जैसे तेज चक्र द्वारा काट कर चाहे इस पृथ्वी के प्राणियों का कोई मांस का खलियान, मांस का पुंज क्यों न बना दे, तो भी इसके कारण उसको पाप नहीं होगा, पाप का [] नहीं होगा। दान देने-दिलाने, यह करने-कराने में कोई पुण्य नहीं है। दान, दम, संदम, सत्य कथन से न पुण्य है, न पुण्य का आगम”।^१ पूरण करसप से इस प्रकार उत्तर पाकर राजा अजात-शत्रु ने कहा था कि “यह तो वैसा हुआ जैसा, यदि आम का फल माँगा जाय तो उसकी जगह रोटी दे दी जाय।”^२

मंक्सलि गोशाल की चर्चा जैन ग्रन्थों में भी मिलती है और यहाँ उन्हें कुछ [] तक महावीर का अनुयायी रहना भी बतलाया गया है। “सुमंगल बिलाशिनी” में उन्हें भी पूरण करसप की ही भाँति किसी दास का पुत्र होना कहा गया है। कहते [] कि उनके पिता-माता कुछ दिनों [] भिलमंगों के क्षेत्र में इधर-उधर फिरा करते थे और मगध निवासी किसी ब्राह्मण की गोशाला में, मंक्सलि का जन्म हुआ था। जैन ग्रन्थों के अनुसार ये पहले महावीर के बहुत ही प्रियपात्र रहे [] और उन्होंने इन्हें अनेक संकटों से बचाया भी था। परंतु पीछे इनका उनके साथ किसी सिद्धांत विशेष पर खोर मतभेद हो गया जिस कारण इन्होंने उनका साथ छोड़ दिया। परंतु डा० वेथी मानव सब्बा ने इनका महावीर का शिष्य होना संदिग्ध माना है।^३

१. साम्ब्य कल सुत्त (दी० नि०)

२. Dr. Thomas : The History of Buddhist Thought
p. 72.

३. भरतसिंह [] : बौद्ध दर्शन [] ग्रन्थ भारतीय दर्शन,
(बंगाल हिंदी मण्डल, सं० २०११) पृ० २२८ (प्रथम भाग) पर उद्धृत।

मंखलि ने 'ब्राह्मिक संप्रदाय' की बातें स्वीकार ली थी और ये उसका एक महान प्रचारक बन कर दूसरों से शास्त्रार्थ करते फिरते थे। इनको 'दिववादी' या 'नियतिवादी' भी कहते हैं, क्योंकि इन्हें कर्म करने में विश्वास नहीं था। इनकी इसी विशेषता के कारण कभी-कभी इन्हें कुछ लोग "अकर्मण्यवादी" तक कह डालते हैं। इनके पीछे कई शिष्य हो गए थे और बहुत से लोगों को इन्होंने जैन धर्म से भी लेकर उन्हें अपना अनुयायी बना लिया था। ये कुछ काल तक एक अपनी शिष्या कुंभारिन के घर भी रहा करते थे जो भावस्ती की थी और जिससे इन्हें अपने मत के प्रचार में बड़ी सहायता मिली थी।

मंखलि का कहना था कि "प्राणी के क्लेश का अथवा उसकी दुःख का कोई कारण नहीं है। बिना किसी कारण के ही वह क्लेश पाता ■ और फिर उससे बिना किसी कारण के ही दुःख भी हो जा सकता है। वह अपनी शक्ति के आधार पर कुछ भी नहीं कर सकता, न वह दूसरे किसी की शक्ति का ही सहारा लेकर किसी कार्य में सफल हो सकता ■। उसमें न तो बल है न वीर्य है और न पराक्रम ही है। सभी तत्व, सभी प्राणी, सभी भूत, सभी जीव, परवश, निर्बल एवं निर्धार्य हैं और भाव्य एवं संयोग के फेर में ■ कर सुख-दुःख भोगा करते हैं। जैसे, सूत की गोली फेंकने पर वह छुलती हुई गिर पड़ती है वैसे ही मूल्य और पंडित दौड़ कर, आवागमन में पड़ कर, दुःख का अंत करेंगे।" इनके अनुसार सुख एवं दुःख दोनों ही नपे-तुले से रहते हैं और संसार में किसी का उत्कर्ष-अपकर्ष या उन्नति-अवनति कभी उसके कारण नहीं होती। मंखलि के कतिपय शिष्यों ने, पीछे, उनके सिद्धांतों के आधार पर अष्ट चरमवाद का भी प्रचार किया था, जिसके अनुसार मानव जीवन में आठ प्रकार के चरम (अंतिम कर्त्तव्य) का होना आवश्यक है। इन आठों चरमों के नाम

(१) चरम पान (२) चरम ध्यान (३) चरम नाट्य (४) चरम श्रृंखलिकर्म, (५) चरम पुष्कर संवर्तक महामण्ड, (६) चरम सेचनक (७) चरम महाशिला कंटक संग्राम तथा (८) चरम तीर्थंकर बतलाये गए हैं, जिनमें से अंतिम चार का आशय स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं होता।

अजित केस कम्बलि का व्यक्तिगत नाम कदाचित् 'अजित' मात्र ही था। मनुष्य के बालों का कपल ओढ़ने से वे केस कम्बलि भी कहे गए। ये कौन-॥ और कहीं के निवासी थे इसका ठीक-ठीक पता नहीं चलता। किंतु इनके मत का सार इस प्रकार दिया गया पाया जाता है—न दान है, न यज्ञ है, न होम है, न पाप वा पुण्य ॥ कोई बुरा वा भला फल मिलता है। न माता है, न पिता है, न अयोनिज सत्व (अर्थात् देवता, हैं, न इस लोक ॥ कोई डानी और समर्थ आशय-भ्रमण ही ॥ जो इस लोक वा परलोक को जान कर तथा साक्षात्कार ॥ कुछ कह सकेंगे। मनुष्य चार महाभूतों से मिल कर बना ॥ और अब वह मरता है तो शरीर की मिट्टी, मिट्टी में, पानी, पानी में, आग, आग में एवं वायु, वायु में मिल जाते ॥ और इन्द्रियाँ आकाश में घली जाती हैं और ॥ मृतक को लाट पर ले जाते ॥ जो केवल जलाने तक ही बिड़ जान पड़ते ॥। इन्द्रियाँ कबूतरके रंग की सी हो जाती हैं, आहुतियाँ राख बन कर तित्तर-बितर हो जाती ॥। "दानकरो" यह मूर्खों का उपदेश ॥ और जो आत्मा के अस्तित्व की बातें किया करते ॥ उनका कहना नितांत दुष्प्र और असत्य है। इसलिए मूर्ख हो चाहे पंडित शरीर छोड़ने ॥ सभी उच्छिन्न हो जाते हैं, विनष्ट हो जाते हैं। इसी कारण, मरने के उपरान्त किसी का कोई भी अंश शेष नहीं रह जाता।' अजित केस कम्बलि को, उनके इन्हीं जैसे विचारों ॥ कारण भौतिकतावादी कहा गया है और कहीं-कहीं उन्हें विशुद्ध 'उच्छेदवादी' तक कह डाला गया है। उनके मत

बहुत कुछ चार्वाकों के ■ से भी मिलता है जिस कारण कुछ लोग अनुमान करते हैं कि वे उन्हीं के अनुयायी भी रहे होंगे।

अजित केस कम्बलि की ही भांति हमें पशुप कम्बायन के भी व्यक्तिगत जीवन के विषय में कुछ भी पता नहीं चलता। केवल इनके मत का सारांश दे दिया गया पाया जाता है, जिसके अनुसार इनका कहना था कि "पृथ्वी, जल, तेज, वायु, सुख-दुख और जीवन ■ सात पदार्थ अकृत जैसे हैं, अनिमित्त जैसे ■ और ये अवश्य, कूटस्थ एवं अचल हैं। ये न तो विकार को प्राप्त होते हैं, न हानिकारक ही हैं। यहाँ न कोई हंता है, न घातयिता है, न सुनने वाला वा सुनाने वाला ही है। यदि तीक्ष्ण ■ द्वारा किसी को काट दिया जाय तो भी किसी को प्राण से मारना नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जो शस्त्र गिरेगा वह, वस्तुतः उक्त सातों कार्यों (अथवा वस्तुओं) से रहित विषय में ही गिरेगा। इस प्रकार, इनके अनुसार अजित केस कम्बलि के उपर्युक्त चार भौतिक पदार्थों के अतिरिक्त तीन अग्न्य भी तत्त्व हैं, जो वस्तुतः खील न पड़ने वाले हैं। पशुप कम्बायन एक ओर जहाँ सुख, दुख एवं जीवन जैसी वस्तुओं को चार महाभूतों की भाँति, परमाशुबल मानते जान पड़ते ■ यहाँ दूसरी ओर वे उन भौतिक तत्त्वों को भी, इन अदृश्य पदार्थों के समान ही, अव्याप्त सा बना बालते हैं। क्योंकि तभी, इन सभी सातों के विश्र-मान रहते हुए, भी हमारा शस्त्र, किसी व्यक्ति के सिर पर न पड़ कर निर्दोष शून्य स्थान में पड़ सकता ■। फिर भी इस विविध मत का यह कथन कि न कोई हंता है और न घातयिता है तथा कोई-किसी को प्राण ■ नहीं मारता, हमें, ऊपर से, गीतोपदेश जैसा लगता है।

संजय बेलहिप्पुस का मत, कदाचित् इनसे भी अधिक विस्तारपूर्ण कहा जा सकता है क्योंकि ये किसी भी तत्त्व अथवा विषय ■ सम्बंध में कोई बात निश्चयपूर्वक बतलाते नहीं जाने पड़ते, न उनके किसी शुभाशुभ परिणाम का ही परिचय देते हैं। अजित केस कम्बलि

एवं पशुध कम्पायन की ही भाँति इनकी जीवनी भी हमें उपलब्ध नहीं। किन्तु इनके मत का सार इस प्रकार है “यदि आप मुझसे पूछें—क्या परलोक है? और यदि ■ जानूँ कि परलोक है तो आप को मतलालूँ कि परलोक है। मैं न तो ऐसा कहता हूँ न वैसा कहता हूँ, न मैं किसी दूसरे ढंग से ही इस विषय में कहा करता हूँ। न तो मैं यह कह सकता कि “यह नहीं है” न मैं यही कह सकता हूँ कि “यह नहीं नहीं है”। परलोक नहीं है, परलोक है भी और नहीं भी है, परलोक न है, न नहीं है। अयोनिज प्राणी अर्थात् देवता है, नहीं है, ■ भी और नहीं भी, न ■ और न नहीं है। अच्छे बुरे कर्मों के फल हैं, नहीं हैं, हैं भी और नहीं भी, न ■ और ■ नहीं है।... यदि आप मुझसे ऐसा पूछें कि तथागत (मुक्त पुरुष) मरने के अनंतर भी रहते हैं और मैं ऐसा समझूँ कि वे रहते हैं, न नहीं रहते हैं तो मैं वैसा आप से कहूँ। ■ न तो ऐसा कहता ■ न वैसा ही कहता हूँ।^१ इस प्रकार संन्य वेलाङ्गिपुत्त अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, न अस्ति न नास्ति जैसी प्रसिद्ध चारों कोटियों में ■ किसी भी एक पर अपनी आस्था रखते नहीं प्रतीत होते।

निगयठ नाटपुत्त अथवा महावीर नामक जैन धर्म के २४ वें तीर्थंकर ■ विषय में, शेष पश्चि तित्थियों से कहीं अधिक बातें विदित हैं। जैन ग्रन्थों में ये वर्धमान तीर्थंकर के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, किन्तु बौद्ध साहित्य में हमें प्रायः निगयठ नाट पुत्त ही कहा गया ■। इन्होंने सन् ५६६ ई० पू० में वैशाली (अर्थात् बसाह जिला मुजफ्फरपुर) में जन्म ग्रहण किया था जो उन दिनों एक प्रसिद्ध गणतन्त्री राज्य था। इनका जन्म-स्थान वस्तुतः कुण्डग्राम था जो वैशालीनगर के अति निकट था, किन्तु, उसकी अप्रसिद्धि के कारण उसे वैशाली

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० २३० (प्रथम ■) पर उद्धृत।

नाम दिया गया। ■■■■■ तीस वर्ष की अवस्था में इन्होंने प्रवक्त्या प्रहय की और १२ वर्षों की तपस्या के अनंतर सिद्धि प्राप्त करके ये वर्षमान से महावीर कहलाये। इन्होंने विशेषतः कोसल एवं मगध के राज्यों ■ भ्रमण करके अपने उपदेश दिये तथा जैन धर्म का प्रचार किया। कहते हैं कि अपने जीवन के अवशेष भाग अर्थात् पिछले तीस वर्षों में इन्होंने प्रचार-कार्य किया था और सन् ५१७ ई० पू० में इनका निर्वाण हुआ था। इनके द्वारा प्रचारित जैन धर्म आज भी जीवित ■ और इस ■ उसमें कई एक सम्प्रदायों की सृष्टि हो गई है। इनके जीवन-काल में ही इनके दो प्रमुख शिष्यों ने, इनके साथ मतभेद हो जाने के कारण, अपने लिए भिन्न भिन्न मतों की स्थापना कर ली थी। उनमें से प्रथम संबन्धिष्ठेदक के रूप में जमालि का नाम लिया जाता है, जो कदाचित्, इनका भागिनेय भी था। उसमें इनके क्रियमाण कृत सिद्धांत (अर्थात् वह सिद्धांत जिसके अनुसार जो कार्य आरंभ कर दिया गया, वह पूर्ण हो गया) के विरुद्ध अपने बहुमतवाद (अर्थात् वह सिद्धांत जिसके अनुसार किसी कार्य के प्रायः पूरा हो जाने को ही पूर्ण हो जाना कहा जाता है) का प्रचार किया। इनका दूसरा अनुयायी गोशालक नाम से प्रसिद्ध है जिसे पूर्वोक्त मन्त्रालि गोशाल से अभिन्न समझा जाता है और जिसके नियतिवाद का महावीर ने भी खंडन किया है।

बौद्ध धर्म ग्रन्थों में निगयठ नाट पुस्त के 'अनुय्याम संवर' की चर्चा की गई है, जिसके अनुसार ये चार प्रकार के संयम को मानते थे अर्थात् (१) जीव हिंसा के भय से ये जल के व्यवहार का संयम (२) सभी पापों का वारण (३) ऐसे वारणों के लिए उपयोगशील होने तथा (४) उनके द्वारा सदा धूतपाप बन जाने को विशेष महत्व देते थे और इसकी, अनेक स्थलों पर, विस्तृत व्याख्या की गई थी। इसी प्रकार इनका यह भी आग्रह था कि तपः साधना को विशेष रूप से अपना कर उसके द्वारा सर्वज्ञता प्राप्त की जाय। परंतु यह स्पष्ट है

कि तीर्थंकर महावीर ■ उपदेशों का विषय केवल यही तक सीमित नहीं था, प्रस्तुत उनके आधारभूत दार्शनिक दृष्टिकोण तथा उन पर आभित नैतिक नियमों की सुंदर व्यवस्था एवं व्यापकता के मूल पर अनुमान किया जा सकता ■ कि उसका आदर्श अत्यंत उच्च और सार्वभौम कोटि का रहा होगा । गौतम बुद्ध एवं तीर्थंकर महावीर दोनों का आविर्भाव एक ही युग में हुआ था, दोनों का कर्म-क्षेत्र भावः एक ही था । दोनों भ्रमण-संस्कृति के ■ समर्थक ■ तथा, अपने समय की धार्मिक विचारधारा को उचित, उन्नत एवं व्यावहारिक रूप देकर, उसे सम्यक् प्रकार से प्रवाहित करने के पक्षपाती थे । दोनों ने ही अपने-अपने प्रयत्नों में बहुत कुछ सकलता पायी, किंतु, जैसा उन दोनों के उपलब्ध उपदेशों के अनुशीलन से पता चलता है, प्रमुख प्रश्नों की सुलझाते समय, उनमें मौलिक दृष्टि-भेद आ गया । उनके मत भिन्न-भिन्न रूप ग्रहण करके प्रचलित हुए तथा उनके क्रमिक विकास एवं प्रभाव की व्यापकता में भी महान् अंतर का आना संभव हो गया ।

“साम्मन्य फलसुक्त” के अंतर्गत वहाँ उपर्युक्त छहों विचारकों की चर्चा की गई ■ वहाँ उनके मतों का केवल संक्षिप्त निदर्शन नहीं किया गया है । जैसा हम इसके पहले भी कह चुके ■, उसके द्वारा हम उनके विषय में न तो कोई सम्यक् धारणा बना सकते हैं, न स्वभावतः उन बातों को ही समुचित महत्व दे सकते हैं जो वहाँ उनकी समीक्षा के रूप में प्रकट की गई हैं । प्रत्यक्ष ■ कि, उन स्थलों पर गौतम ■ की केवल उन्हीं उक्तियों को संघटित किया गया है, जिन्हें अलग विरोध के कारण, कोई महत्व दिया जा सकता था । उस महा-सुलक्ष को एक महान् दार्शनिक एवं स्वतंत्र विचारक स्वीकार कर लेने में कोई आपत्ति नहीं की जा सकती । किंतु फिर भी यह कह लाजता कि उन्होंने प्रत्येक दूसरे मत को उसके सर्वांगीण रूप में व्यक्त किया तथा उसकी समुचित समीक्षा भी कर दी, संभवतः सत्य के निकट न

हीगा। यह कहना, कदाचित्, अधिक व्यापक संगत जैचे कि जी गया है वह समयानुसार और, केवल प्रासंगिक रूप में ही प्रकट किया गया है। उसने मात्र के आधार पर हम न तो उक्त विचारको के पूरे मत को जान सकते हैं न उनको हीन अथवा अष्ट ही ठहरा सकते हैं। "ब्रह्मजाल सुत" में उल्लिखित ३२ मिथ्या दृष्टियों की चर्चा से हमें इस बात का और भी समर्थन मिलता है और जब हमारी दृष्टि जैन ग्रन्थ 'सूत्र कृतांग' की ओर जाती है और हम उसकी ३६१ ग्रन्थ दृष्टियों को पढ़ते हैं तो हमें यह अनुमान करते भी विलंब नहीं लगता कि अपने से मिला या विरोधी जान पड़ने वाले मतों में उल्लेख कर, उनकी आलोचनात्मक चर्चा करना तत्कालीन धर्म प्रचारकों के लिए कदाचित् एक नियम हो गया था।

"ब्रह्मजाल सुत" के अंतर्गत निकाले गये अंतिम परिणाम से पता चलता है कि उन दिनों जितने भी बाद प्रचलित थे वे निरर्थक थे। वास्तविक रहस्य का ज्ञान प्राप्त कर लेना सबके लिए सुगम नहीं है, न वह उतना अनिवार्य ही समझा जाना चाहिए। जिस तथ्य को समझ कर तथा अनुभव करके त्यागत कोषित कर रहे हैं वह अत्यंत गूढ़ है, अगोचर है, अगम्य है, शक्ति एवं शुद्ध है तर्क-प्रवृत्ति के क्षेत्र से परे है, सूक्ष्म है और वह केवल उन्हीं के लिए बोधगम्य है जो विशुद्ध होते हैं।^१ अतएव, समग्र-जीवन भी वास्तविक उद्देश्य यही हो सकता है कि उसे तात्त्विक एवं नैतिक प्रश्नों की ओर अधिक ध्यान में दिया जाय, प्रस्तुत साधकों की जीवन-चर्चा करें जो विशिष्ट चर्चा की जाय तथा उन्हें इस बात का शिक्षण दिया जाय कि वे किस प्रकार विशुद्ध नैतिक आचरण, ध्यान तथा पूर्य कोषों की उक्त लक्ष्य के लिए सतत प्रयत्नशील बनें। जीवन शुद्ध ने पूर्य करतक अकिंवाचं एवं पशु चर्चायन के 'अकृततावाद' का आलो-

जनात्मक परिचय देते समय, इस बात को सदा अपने ध्यान में रखा और अपने "क्रियावाद" का प्रचार करते हुए समाज के भीतर नैतिक व्यवस्था लाने की भरपूर चेष्टा की। उन्होंने इस दृष्टि से मंगलसि गोसाल के दैनवाद वा नियतिवाद का भी विरोध किया तथा संजय बेलहट्टिपुत्त की भांति, किसी अनिश्चिततावाद की जैसी संदेहात्मक मनोवृत्ति को स्वीकार न करते हुए, अज्ञित केस कम्मसि के भौतिकवाद वा 'उच्छेदवाद' जैसे मतों के प्रति उन्होंने अपने को अनुष्ठित भी नहीं किया।

परंतु यह भी मान लेना कदाचित् उचित नहीं कि गौतम बुद्ध ने अपने समय के प्रचलित दार्शनिक मतों से कभी कोई प्रेरणा नहीं की होगी। हम देख चुके हैं कि जिस समय कर्मकाण्ड और श्रितयज्ञवाद की प्रतिक्रिया में उन्होंने अपनी साधना प्रारंभ की थी, उसके विरोध में बीज, उनके बहुत पहले से अथवा कदाचित् उपनिषद् साहित्य के रचना-काल में ही पड़ चुका था। उनके समय तक दुलवाद, कथिकवाद, कर्मवाद, आदि सम्बंधी अनेक विशिष्ट धारणाओं की ओर किये गए विविध संकेतों का भी अभाव न था। उनके युग में न केवल औपनिषदिक विचारधारा ही प्रवाहित हो रही थी और यति धर्म का भी प्रचार था, अपितु, जैसा प्रारंभिक बौद्ध ग्रन्थों के देखने से पता चलता है, उस समय न्याय, सांख्य एवं योग दर्शनों की अनेक बातें भी वातावरण में प्रवेश पा चुकी थीं। ऐसी दशा में उनका इनकी विशिष्ट बातों से भी बहुत प्रभावित हो जाना कुछ असंभव नहीं हो सकता था। पारचात्य विद्वानों की धारणा है कि गौतम बुद्ध अपनी कई माय्यताओं के लिए सांख्य दर्शन से बहुत प्रभावित थे और इस बात में उनके साथ अनेक भारतीय विद्वान भी सहमत हैं। इस मत के प्रमाण में प्रायः कहा जाता है कि अपने तत्त्व-चिंतन के प्रारंभिक दिनों में उन्होंने आलार कालाम एवं उदक रामपुत्त से शिक्षा पायी थी जो संभवतः दोनों ही सांख्य एवं

योग दर्शन द्वारा प्रभावित थे। अश्वघोष ने अपनी रचना 'बुद्धचरित' के बारहवें सर्ग में इस विषय पर प्रकाश डाला है और उसे 'अराउ दर्शन' का नाम तक दे डाला है। परंतु यदि प्रारंभिक बौद्ध दर्शन एवं सांख्य दर्शन का तुलनात्मक अध्ययन, पूरी छानबीन ■ साथ किया जाय तो यह बात पूर्णतः सिद्ध नहीं हो पाती।¹ फलतः इस प्रकार अनुमान करना कदाचित् अधिक समीचीन होगा कि गौतम बुद्ध की विचारधारा में उन दिनों सांख्य दर्शन के सिद्धांत केवल अपभ्रंश रूप में ही समाविष्ट हो पाये होंगे और पीछे स्वतंत्र रूप से पृथक्-पृथक् विकसित होने के कारण उनमें बहुत अंतर दीख पकने लगा होगा।

1. History of Buddhist Thought, p. 80.

धार्मिक एवं साहित्यिक प्रवृत्तियाँ

नौच एवं जैन धर्म सम्बंधी प्राचीन ग्रन्थों की देखने से पता चलता है कि गौतम बुद्ध के आविर्भाव-काल में उत्तरी भारत के निवासियों का धार्मिक जीवन एक समान आदर्शों का अनुसरण करनेवाला नहीं था। उसमें विविधता वा बहुरूपता अब गई थी जिसका किंचित् अमास दिलाने के लिए हमें उसे कम से कम दो विभिन्न कोटियों में रखकर देखना पड़ सकता है। इनमें से प्रथम को अधिकतर वे व्यक्ति ही अपनाते जिन्हें वर्ग का समझा जाता है। वे या तो ब्राह्मणों के पंडित वा पुरोहित वर्गों वाले रहा करते थे अथवा उनमें ऐसे लोग सम्मिलित थे जिन्हें प्रायः धनी-मानी वा अधिकारी वर्गों में गिना जाता है। इसी प्रकार द्वितीय कोटि के धार्मिक जीवन को अपनाने वाले विशेषतः वे लोग थे जिनके समुदाय को 'सर्वसाधारण' कहा जाता है। इन दोनों में एक महान् अंतर यह था कि प्रथम के लिए जहाँ प्राचीन वैदिक आदर्शों का अनुसरण करना तथा आस वचनों का आश्रय लेना आवश्यक समझा जाता था, वहीं द्वितीय कोटि के अनुसार चलने वाले लोग इस प्रकार के बंधनों से बहुत मुक्त रहते थे। बहुधा अशिक्षित रहने के कारण वे ऐसी बातों को पूरा महत्त्व नहीं दे पाते थे, प्रचलित परंपराओं का पालन ही कहीं अधिक प्रिय था। इसके सिवाय उपलब्ध सामग्रियों के आधार पर हम यह भी अनुमान सकते हैं कि इस द्वितीय कोटि का जीवन-व्यापन करने वाले लोगों की संख्या उस समय तक उस प्रथम कोटि वालों की अपेक्षा कहीं अधिक बड़ी भी रही होगी। हाफकिंस का तो यहाँ तक कहना है कि वैदिक वा ब्राह्मणधर्म का क्षेत्र बस्तुतः, केवल एक छोटे-से समुदाय तक ही सीमित था और वह उस बहुसंख्यक

जन-समूह के विस्तृत सागर में एक द्वीप वा कहा जा सकता था जिसका धार्मिक जीवन अधिकतर अंधविश्वास पर ही निर्भर था।¹

पुनः पालिग्रन्थों में जिस वैदिक धर्म का परिचय दिया गया मिश्रता है, उसके अनुयायियों को वहाँ प्रायः 'सोत्थिय' एवं 'महासाल' कहा गया है और उसके वहाँ पर कम से कम तीन भेद भी किये गए जान पड़ते हैं। तदनुसार पहले को हम उसके 'भावात्मक' वा 'राशात्मक' पक्ष का नाम दे सकते हैं और उसमें विशेषकर 'इन्द्र, सोम, वरुण, ईशान, प्रजापति, ब्रह्मा, महिन्द्र और यम' जैसे देवताओं का आह्वान, उनके प्रति प्रार्थना, याचना अथवा अभिनन्दन के उद्देश्य से किया जाता है। इस प्रकार की बातें कहीं-कहीं 'जातक' में भी पायी जाती हैं, जहाँ पर देवताओं के राजा 'सक' की चार पुत्रियाँ 'आसा' (आशा), 'सदा' (भद्रा), 'धिरी' (भी) एवं 'हिरी' (ह्री) के नामों से बतलायी गई हैं और उन्हें देवियों जैसी मानते हुए, उनका आह्वान भी किया गया है। 'श्रृंगवेद' से लेकर 'जातक' तक विचोचित गुणों को अमूर्त से मूर्त रूप देने की प्रवृत्ति उत्तरोत्तर स्पष्ट होती गई जान पड़ती है और अंत में उन्हें पूर्ण व्यक्तित्व तक मिल जाता है।² उस युग के वैदिक धर्म का एक दूसरा पक्ष 'याज्ञिक' वा यज्ञ सम्बंधी है जिसमें गौओं, बैलों, भैसों, हाथियों, घोड़ों, बकरों, भेड़ों आदि के बलिदान की व्यवस्था है। ऐसे बलिदानों में अश्वमेध एवं नस्मेध तक की चर्चा आती है और उन्हें पुरोहित एवं महासाल विशेष महत्व देते देखे जाते हैं। ऐसे अवसरों पर महान् उत्सवों का आयोजन किया जाता है और बहुत सा दान भी दिया जाता है। इसी प्रकार वैदिक धर्म के तृतीय अंश का नाम 'निधिबहुल' पक्ष दिया जा सकता है जिसमें 'अग्निबहुल' (अग्निहोत्र) जैसे निविध निव्यक्रमों

1. Hopkins : 'Religions of India', Chapter IX

2. B. C. Law: India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism, P. 504

का संपादन परम कर्तव्य समझा जाता है।

परंतु बौद्ध एवं जैन धर्म सम्बंधी प्राचीन ग्रन्थों में बाह्यण धर्म को इस प्रकार भी चित्रित किया गया है जिससे हम इसमें रंज, मंत्र, टोना, टोटका, भूतविद्या, स्वप्नविचार, शकुनशास्त्र, आदि जैसे विषयों को ही अधिक महत्व देते देखने लगते हैं। इन बातों से विशेष परिचय रखने वाले लोगों को उन दिनों के महाराजे तथा दरबारी भी अधिक आदर देते हैं। यदि कमी वे किसी दुःस्वप्न अथवा भौतिक दुर्घटनाओं से भयभीत होते हैं तो उन्हें सम्मानपूर्वक निमंत्रित कर उनसे उचित विचार कराते हैं। 'जातक' में तो यहाँ तक बतलाया गया है कि जब राजा 'पसेनदि' की महारानी को 'स्वप्न-विचार' कराने की आवश्यकता पड़ी तो उस समय राजा ने इसके लिए बाह्यणों की अपेक्षा स्वयं गौतम ■ को ही अधिक योग्य माना था। वास्तव में पुराने पालि ग्रन्थों के अंतर्गत ऐसे अनेक 'भयों' के भी स्पष्ट उल्लेख मिलते ■ जिनसे उन दिनों के भारतवासी प्रायः संशंकित रहा करते थे। 'जातक' में इनकी संख्या सोलह ■ दी गई पायी जाती ■ और 'मिलिंद प्रश्न' के अंतर्गत यह सत्रह तक पहुँच जाती है। ऐसे 'भयों' ■ शासकों द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों का भय, चोरों डाकुओं का भय, भूतों का भय, अकाल का भय, रोगों का भय जैसे बहुत से गिनाये जा सकते हैं। बौद्ध धर्म के अनुयायियों ने, इनसे बचाव के लिए, पीछे विभिन्न 'परिचों' ■ उच्चारण को विशेष महत्व दिया और जैनियों ने भी कदाचित्, इसी विचार से, उन 'अष्ट-भंगलों' की व्यवस्था की जिनमें 'सौवस्थिय' (स्वस्तिक), 'तिरिविज्ज' (श्रीवत्स), 'नन्दियावत्स' (नन्द्यावत्स), 'वदमायाग' (वर्द्धमान), 'भद्रासण' (भद्रासन), ■, 'मच्छ' (मत्स्य), और 'दप्पण' (दर्पण) के नाम लिये जाते हैं।¹ बौद्धों के 'पालि ग्रन्थ' 'खुदक पाठ' में भी जो 'भंगल-

सुप्त' आया है उसमें भी मानव कल्याण के लिए सैतीब प्रकार के मंगलों की चर्चा पायी जाती है।

अनेक विद्वानों के मत से इस प्रकार की बातों का मूल स्रोत 'अथर्ववेद' समझा जा सकता है। तदनुसार, ऐसी चर्चाओं के आचार पर ही प्राचीन वैदिक धर्म के अनुयायियों को अपने समकालीन आदिवासियों के संपर्क में आने की विशेष सुविधा मिली होगी। पीछे वैदिक मंत्रों के जानकर ब्राह्मण याजक और पुरोहित भी उनकी सहायता से सर्वसाधारण तक सुगमता के साथ पहुँचने लग गए और सबकी दृष्टि ■ परम कल्याण के कर्त्ता एवं पूर्णतः विश्वसनीय भी बन गए। अतएव, हो सकता है कि उन्हीं के अनुकरण में, बौद्ध एवं जैन धर्म के प्रचारकों ने क्रमशः ऐसी बातों को भी अपना लिया हो जो उनके सुधारपरक सिद्धांतों के प्रत्यक्षतः प्रतिकूल जाती जान पड़ती थीं।

अन साधारण के धार्मिक जीवन में प्रधानतः दो प्रकार की भावधारा काम करती दीख पड़ती थी। कुछ लोग जहाँ पूर्वप्रचलित परंपराओं के अनुसार देवताओं की उपासना में विश्वास करते थे और 'देवधम्मिक' अथवा 'देववतिक' के नाम से अभिहित होते थे, वहाँ दूसरे लोग विभिन्न प्रचलित पंथों का अनुसरण करना ही अधिक भेद्यत्कर समझते थे और उनकी विशिष्ट गुरु-परंपराएँ भी चला करती थीं। देवधम्मिकों की उपासना में भक्ति एवं ■ का अंश अधिक रहा करता था और वे किसी न किसी प्रकार की विधियों के अनुष्ठान भी करते थे। वे प्रायः मत रहते थे और अपनी प्रार्थनाओं के बल पर इष्टदेवों को प्रसन्न कर उनसे लाभान्वित होने में भी विश्वास करते थे। उनके इष्टदेव वस्तुतः विभिन्न दैवीगुणों के मूर्तस्वरूप हुआ करते थे और उनके साथ वे सदा सान्निध्य का अनुभव भी करते थे। जो जैसा उपासक होता था, ठीक उसी के अनुकूल उसके इष्टदेव की कल्पना भी हुआ करती थी और तदनुसार ही उसे व्यक्तित्व भी प्रदान किया जाता था। इसी प्रकार इष्टदेव का जो

कुछ नाम होता था, उसी के आधार पर उसके उपासक का नाम भी पड़ जाया करता था। इसके लिए कदाचित् यह नियम हट सा बन गया था कि 'ये ऐसा दक्षिणोप्या ■ ऐसा देवता' अर्थात् जो जिनकी उपासना के योग्य जात पड़े, वे ही उनके देवता ठहराये जा सकते हैं। इसके उदाहरण उन दिनों के जन-समुदाय ■ दूँदने पर बहुत अच्छी संख्या में मिल सकते थे। फिर भी प्रत्येक ऐसे साधक वा उपासक के लिए प्रत्येक किसी पुरोहित की भी आवश्यकता पड़ जाती थी जो उसके तथा उपासक के बीच माध्यम बन जाय करता था।

'जुल्लभिदेस' तथा अन्य ऐसे पालि ग्रन्थों में देवताओं को स्पष्ट रूप से कम से ■ तीन वर्गों में विभाजित किया गया है। वे मानों 'सम्मतिदेव' अथवा सर्वसम्मति द्वारा स्वीकृत देवता समझे जाते थे, 'उपपत्तिदेव' वा उत्पत्ति से ही मान लिये गए कहे जाते थे, वा उन्हें 'विमुक्ति देव' की संज्ञा दी जाती थी जिससे अभिप्राय उन देव-साओं का था जो विशेषतः शुद्धता वा निर्मलता के कारण प्रसिद्ध ■। वहीं पर यह भी स्पष्ट कर दिया गया मिलता है कि ■ प्रथम वर्ग में राजाओं, राजकुमारों, रानियों एवं राजकुमारियों की गणना की जाती थी। दूसरे वर्ग में जनता द्वारा पूजे जाने वाले अनेक देवता आ जाते थे तथा तीसरे वर्ग में विभिन्न प्रचलित मतों के प्रचारक, उनके शिष्य एवं संतों को स्थान दिया जाता था। इसके कारण कदाचित् यही था कि राजा, रानी, आदि जहाँ सर्वसाधारण द्वारा मान्य थे, देवी, देवता स्वभावतः सबके आराध्य समझे जाते थे, वहीं सामाजिक नेताओं को भी, उनकी सुधारवादी चेष्टाओं के कारण, दूसरों के लिए पुजार्ह मान लिया गया था। 'वेस्सम्म ज्ञातक' में तथा 'जुल्ल-भिदेस' में भी इस प्रकार के देवों के अंतर्गत सूर्य, चंद्र, अग्नि,

नाग, गण्ड, पक्ष, गंधर्व, असुर, आदि बहुतेक के नाम गिनाये गए हैं। इसी प्रसंग में वायुदेव, वलदेव, पुण्यभद्र, मणिभद्र, जैसे नाम लेकर फिर क्षात्रीयों, निगन्थों, जटिजों, परिम्बाजों एवं अश्विनदत्तों की भी चर्चा कर दी गई है। 'ब्रह्मनिर्देश' वाली सूची में तो एक [] पर हाथियों, घोड़ों, गीलों एवं कुत्तों [] को पूजनीय ठहराया गया देख पड़ता है।

बौद्ध धर्म के प्रारंभिक विकास का इतिहास पढ़ते समय खान पड़ता है कि उसमें पहले 'रूपब्रह्म' एवं 'अरूपब्रह्म' नामक दो प्रकार के देवों की स्वीकार किया जाता था। इनमें से दूसरे में केवल चार ही कोटियाँ थीं वहीं पहले की कोटियों की संख्या सोलह से [] न थी। 'अरूपब्रह्म' सबसे उच्च श्रेणी का देव था, जिसके नीचे 'रूपब्रह्म' आता था और इसके नीचे आने वाले देवों को 'कामावचारदेव' की संज्ञा दी गई थी। ऐसे कामावचार देवों के ही अंतर्गत् चार 'लोकपाल' आ जाते [] जो आकाश, अंतरिक्ष एवं भूमि पर वर्तमान क्षुद्र देवों पर शासन किया करते थे। सभी के नीचे क्रमशः साधारण मानव, पशुवन एवं भूतों को स्थान दिया गया था। फिर भी 'अरूप ब्रह्म' की पहुँच स्वयं गौतम बुद्ध [] भी नहीं समझी जाती थी, क्योंकि उसके ऊपर उन बौद्ध संतों को स्थान दिया जाता था जो 'अरिय' कहलाते थे और इनके भी ऊपर [] थे। इसी प्रकार जैन धर्म के प्रारंभिक रूप से भी पता चलता है कि वहाँ 'जिन' को सबसे उच्च स्थान वा पद प्रदान किया गया था, जिनके नीचे उनके शिष्य थे। इस शिष्य वर्ग से निम्न स्तर वाले देवों को 'वेमानिक देव' कहा जाता था जिनके नीचे [] 'व्योतिषी', 'वाणमंतरी' तथा 'भवनवासी' आते थे। वेमानिक देवों में 'सोहम्म ईशाण', 'सणवकुमार', 'महीद', 'वग्मा' आदि के नाम लिये गए हैं। व्योतिषियों में सूर्य, चंद्र, विभिन्न नक्षत्र एवं राहु आदि गिनाये गए हैं। वाणमंतरी में भूतों, पिशाचों, यकजों, लिङ्गों, गंधर्वों आदि की

चर्चा की गई है और भवनवासियों के अंतर्गत असुर, नाग, अग्नि, पवन, विष्णु, उदाहि (उदधि) आये हैं। इन सभी के नीचे थाले स्तर पर वे आते हैं जिन्हें भूपाणी, जलपाणी, अग्निपाणी एवं वायुपाणी कह सकते हैं। इस प्रकार देखने से जान पड़ेगा कि उक्त दोनों धर्मों ने कदाचित् एक ही मूलस्रोत से प्रेरणा ली होगी।

प्राचीन बौद्ध एवं जैन धर्म-ग्रन्थों के अंतर्गत उन दिनों के तापसों, परित्राणकों आदि की भी जीवन-चर्चा का बहुत स्पष्ट एवं सविस्तार वर्णन आता है। ब्राह्मण धर्म के अनुसार, सांसारिक जीवन का परित्याग करते समय, ऐसे व्यक्तियों को 'वानप्रस्थ' की संज्ञा दी गई है। संभवतः, इसी प्रकार के नियम-पालन को पालि भाषा में 'इसिपन्नवज्जा' (श्रुषिप्रवज्जा) भी कहा गया मिलता है। ये संसार त्याग का मत लेने वाले प्रधानतः ब्राह्मण और 'खत्तिय' (क्षत्रिय) हुआ करते थे और इनमें कभी-कभी 'गहपति' (वैश्य) भी देखे जाते थे। केवल एक ही उदाहरण ऐसा मिलता है जिसमें 'मार्तग' वा चांडाल जाति के किसी व्यक्ति ने भी उक्त प्रकार से प्रवज्जा ग्रहण की थी। शूद्रों का नाम नहीं आता। तापस अपने संसार-त्याग के अनंतर वन में जाकर कोई उपयुक्त स्थल चुनता था और वहाँ किसी जलाशय के निकट आश्रम बनाता था। वह कभी-कभी अपने साथ अपने परिवार के व्यक्तियों को भी ले आता था अथवा वहाँ पर अपने शिष्यों को ठहराया करता था। वे लोग केवल कंद, मूल, फल पर अपना जीवन व्यतीत करते थे और वृक्षों की छाल अथवा मृगचर्म पहना करते थे तथा जटा रखते थे। बौद्ध एवं जैन धर्म के उदय-काल के बहुत पहले से ही ऐसे लोग अपने आश्रम, हिमालय, विंध्य-गिरि अथवा गंगा-वा यमुना के तट पर बनाते रहे थे। उनके ये निवासस्थल प्रायः ऐसे सुंदर बने होते पड़ते थे कि उन्हें विश्वकर्मा

द्वारा निर्मित तक स्वीकार कर लिया जाता था। इन तापसों में कभी-कभी ऐसे व्यक्ति भी देख पड़ते थे जो पहले किसी न किसी राज्य का शासन कर चुके होते थे। बौद्धों के जातकों एवं जैनो के 'उत्तराध्ययन ध्वज' जैसे ग्रन्थों में ऐसे अनेक प्रसिद्ध राजाओं की चर्चा आती है, जिन्होंने अंत में, तापस जीवन स्वीकार किया था। इनमें गंधार के नगजी, पंचाल के दुःमुख, विदेह के निमि, विदर्भ के भीम तथा कलिंग वाले करकंडु के नाम लिये जा सकते हैं।

'महादेव सुच' में आता है कि किस प्रकार विदेह वंश के आदि पुरुष महादेव ने अपने सिर के किसी एक पके बाल को देखते ही, उसे अपनी माची भृत्य का सूचक मान लिया था और अपने पुत्र निमि को राज्य का शासन भार समर्पित करके राजर्षि का जीवन अपनाया था।^१ इसी प्रकार काशी के शरभंग नामक ब्राह्मण सेनापति ने अपने जीवन से विरत होकर, विन्ध्यक्षेत्र में गोदावरी के तट पर प्रव्रज्या ली थी।^२ कोसलराज एसेनदि के पुरोहित बावरी ने भी सांसारिक जीवन से सम्बंध-विच्छेद करके गोदावरी के तट पर अपना आश्रम बनाया था। इस बात के लिए भी उदाहरणों की कमी नहीं कि ऐसे आश्रमों के पड़ोस में फिर क्रमशः अनेक सुंदर नगर बसने लग जाते थे। इस प्रकार निर्जन कहे जाने वाले वन में ही कपिलवस्तु, सावत्थी काकंडी और माकंडी जैसे समृद्धिशाली नगरों का निर्माण हो जाता था।^३ ऐसे आश्रमों के बीच किसी निश्चित मार्ग-प्रणाली के अधिक उदाहरण नहीं मिलते। 'सरभंग जातक' से पता [REDACTED] है कि बनाव-क्ष से पंचवटी की ओर यात्रा करते समय अधिकतर 'एक पदिक

१. मम्मिकम निकाय

२. सरभंग जातक, खं० ५

३. B. C. Law : India as described in Early Texts of Buddhism and Jainism, P. 218-19.

मग्न' अर्थात् पगडंडी से चलना पड़ता था और किसी न किसी 'बन-चरक' से सहायता लेनी पड़ती थी ।^१ परंतु बावरी के समय 'राजगह' (राजगृह) एवं 'पतिहारा' (प्रतिष्ठान) के बीच राजमार्ग का निर्माण हो गया था । गौतम बुद्ध के समय में 'गयासेत्त' (गयाचेत्त) के अंतर्गत तीन 'कस्सप' (कश्यप) बन्धुओं के 'जटिल' अनुयायियों की तीन वस्तियों का पक्का चलता है ।

उत्तरी भारत में उन दिनों 'परिव्रजकों' के कई संप्रदाय प्रचलित थे जो सप्ताह के ६-६ महीनों तक सर्वत्र घूम-घूम कर उपदेश देते रहते थे । राहस्य डेविड्स के अनुसार ये लोग भी ग्रीक स्त्रियों की भाँति विभिन्न स्त्रियों के व्यक्ति हुआ करते थे और सत्संग करते रहते ■ ।^२ वे प्रायः ■ एक ही धारण करते थे, मुँडन किये रहते थे (जिस बात में जटिल तापशों से भिन्न दील पड़ते थे), गृहविहीन रहा करते थे और चतुर्मासे में भी केवल गुहाओं वा शून्यागारों में ही निवास करते थे और भिक्षा के आधार पर ही जीने के कारण अधिक-तर 'भिक्षु' कहे जाते थे । इनमें से कुछ लोग, ब्रह्महीन भी रहने के कारण, अचेलक वा 'नगयन्कजित्' (नम्रप्रव्रजित) नाम से अभिहित होते थे और जो भृगचर्म पहना करते ■ । उन्हें 'चम्मा सादक' नाम दिया जाता था तथा ■ को उनके गोत्र नामों से भी पुकारा जात था । ऐसे परिव्रजकों की ही कोटि में बहुधा उन भ्रमणों की सम्झना की जाती है जिनकी कम से कम ६३ संस्थाएँ प्रचलित थीं और उनमें भी छह बहुत प्रमुख थीं । बौद्धों ने उनके महापुरुषों को 'तिलियों' की संज्ञा दी है और उनके धूरणकस्सप, मन्वलिगोसाल, पण्डु कन्चायन, अजित-केस कम्बलि, संजय बेलहिपुत्त और निगण्ड नाट-पुत्त नाम भी बतलाये हैं । इनमें से छह वस्तुतः जैनधर्म वाले महावीर

१. सरनंग शास्त्रक, सं० ५, पृ० १३२

2. Rhys Davids : Buddhist India, P. 141.

ही थे और संजय बेलझि नामक किसी क्षत्रिय वंश के व्यक्ति थे, शेष मान्य है। पुरुष कस्वप के मत को 'अक्रियावाद' कहते हैं जिसके अनुसार मनुष्य जो कुछ भी करे उसके लिए वह पाप वा पुण्य का भागी नहीं हुआ करता। मन्त्रालि गोसाल के मत को इसी प्रकार 'नियतिवाद' वा 'देववाद' कहा जाता है, जिसके अनुसार सभी प्राणी केवल नियति द्वारा चालित होते रहते हैं। प्रबुद्ध कात्यायन (पशुष कन्चायन) का मत भी एक प्रकार का 'शाश्वतवाद' था, जिसके अनुसार आत्मा एवं जगत् दोनों नित्य और अपरिवर्तनशील हैं। अजित केस कम्बलि सदा कंठल पहना करते थे और वे मृत्यु के अनंतर अस्तित्व न स्वीकार करने के कारण 'उच्छेदवाद' की नास्तिकता के समर्थक थे। संजय बेलझिपुत्र को 'संदेहवादी' कहा गया है, क्योंकि वे किसी वस्तु के विषय में कभी कोई निश्चय नहीं कर पाते थे।

इन तापसों एवं परित्राजकों के अतिरिक्त, उन दिनों, एक विशिष्ट संप्रदाय उन लोगों का भी था जो योग-साधना में निरत रहा करते थे। 'अरिय परिषेसन सुत्त' नामक पालि ग्रन्थ से पता चलता है कि गौतम बुद्ध के समय अलार कालाम तथा उद्धक रामपुत्र नामक दो प्रसिद्ध योगी थे, जिनसे राजगृह से उठवेला की ओर यात्रा करते समय, उन्होंने योग साधना सीखी थी। उठवेला में निवास करते समय भी उन्होंने अचेलक वा आजीवक वर्ष के योगियों द्वारा शिक्षा ग्रहण कर 'अभ्यासक काय' (अर्थात् हठयोग वाले कुंभक) का अभ्यास किया था। उन दिनों की सर्वसाधारण जनता में भी योग-साधना के महत्व में पूर्ण आस्था रहा करती थी और वे इसकी सिद्धियों में विश्वास करते थे। उनकी धारणा थी कि जिस व्यक्ति को जितना ही अधिकतर विभिन्न शक्तियों के प्रदर्शन में श्रेया उत्तनी ही उच्च कोटि का वह महापुरुष भी हो सकता है। साधन में जिस

समय अनेक दर्शकों के समक्ष गौतम बुद्ध ने 'चमत्कारी बातें' दिखावा दीं उस समय से उनकी धाक थी ।^१ तब से उनके अनुयायियों का विश्वास और भी दृढ़ हो गया कि वे न केवल एक उत्कृष्ट विचारक थे, अपितु एक सिद्ध योगी भी थे । फिर भी जैनो के 'आचारंग सूत्र' नामक ग्रन्थ से पता चलता है कि उन दिनों रमते लोगों के प्रति सभी व्यक्ति एक ही प्रकार का व्यवहार नहीं किया करते । महावीर स्वामी जिस समय लाढ़ देश में भ्रमण कर रहे थे उस समय वहाँ के आश्रित निवासियों का स्वभाव था कि वे उस प्रकार की साधु-वृत्ति वाले व्यक्तियों पर 'बुच्छु' बोल-बोल कर अपने-अपने कुत्तों को छोड़ देते थे और उन्हें बहुत तंग किया करते थे ।^२ ऐसे लोगों को अपनी दुष्टता से विरत करने के लिए केवल दो ही मार्ग हो सकते थे जिनमें से एक था उन्हें शाप दे देना और दूसरा उन्हें भीषण नरकादि के शान से भयभीत कराना ।

डा० विंटरनिस का कहना है कि उस युग के कई दर्शकों किसी प्रकार के भी साहित्य-निर्माण की चेष्टा नहीं हुई ।^३ यह कि पालि ग्रन्थों के बहुत से अंश स्वयं गौतम बुद्ध के ही मुख से निकले हुए वचन समझे जाते तथा 'वम्मपद', 'उदान', 'इतिवृत्तक' आदि में ऐसे 'बुद्ध वचन' संग्रहीत भी हो सकते हैं । किंतु इसके साथ ही यह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता कि इस प्रकार उनकी अन्य किसी महापुरुष की भी रचनाएँ आज सुरक्षित हैं । इस सम्बंध में यह बात भी विचारणीय है कि गौतम बुद्ध ने अपने उपदेश, उस समय, अपनी कोसलदेशीय बोली में ही दिये होंगे और उन्हें

1. B. C. Law : India as described etc., P. 293

२. आचारंग सूत्र (१-८-३-४)

3. M. Winternitz : A History of Indian Literature
Vol. II (University of Calcutta, 1933) PP. 2-3

उनके शिष्य और अनुयायी सुनकर कंठस्थ कर लेते होंगे। अतएव यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उनकी जो बातें पीछे पालि ग्रन्थों में संगृहीत की गईं, वे अक्षरशः मूल रूप में रही होंगी। स्वयं पालि भाषा ही किसी क्षेत्र विशेष की बोली न होकर अनेक बोलियों का एक मिश्रित रूप प्रकट करती है। वह एक 'साहित्यिक भाषा' ही हो गई, जिसके माध्यम से बौद्ध धर्म विभिन्न विचारों और प्रसंगों को सुरक्षित रखने की चेष्टा की गई है। इसी प्रकार जहाँ तक पता चलता है, महाधीर स्वामी के मूल वचन भी जैन धर्म के प्रसिद्ध मान्य ग्रन्थ १४ पुत्रों (अर्थात् प्राचीन ग्रन्थों) में सुरक्षित हैं। किंतु कहा जाता है कि जो उपदेश स्वयं उन्होंने अपने शिष्य गयाधरो को दिये वे वे पीछे लुप्त हो गए और उनके केवल एक मात्र शिष्य ने ही उन्हें किसी प्रकार बचा पाया था जिस कारण फिर पीढ़ियों तक ही लगभग उसी रूप में वर्तमान रहे। इस प्रकार यह भी अचिन्त में स्वीकार नहीं की जा सकती कि अंत में, संगृहीत होने के समय तक उनके भी वचन ठीक अपने मूल रूप में ही रह गए होंगे। उक्त 'पूम्ब' भी पहले केवल १० की ही संख्या में थे और उनमें ४ पीछे जोड़ दिये गए तथा उन्हीं के आधार पर नवीन अंगों और उपांगों की सृष्टि कर दी गई।

गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल में आजकल जैसे साहित्यों की रचना की और कदाचित् कभी ध्यान ही नहीं दिया जाता था। कभी कोई धार्मिक आंदोलन आरंभ होता अथवा मतसंतोषों के बीच प्रारम्भिक वाद-विवाद छिड़ता अथवा कोई विचारक विशेष अपने निश्चित सिद्धांतों के प्रचारार्थ घूम-घूमकर सर्वसाधारण में उपदेश देना आरंभ करता, अधिकतर मौखिक बातों ही प्रयोग किया जाता। ऐसे उपदेश वा प्रवचन यदि अधिक महत्वपूर्ण होते तो भोक्ता

या शिष्य प्रायः कंठस्थ कर लेते और उन्हें यथावसर दोहरा दिया करते। उन्हें किसी व्यवस्थित रूप में लिपिबद्ध करने अथवा किसी क्रम के अनुसार संगृहीत रूप में लाने की कमी चेष्टा नहीं की जाती। कहते हैं कि ब्राह्मण धर्म के प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थों की भी पहले यही दशा थी और ■ भी मौखिक ■ में ही कई शताब्दियों तक सुरक्षित रहते आए थे। उनके भिन्न-भिन्न संघों, पक्षों अथवा वाक्यों को उनके निर्माण-काल के बहुत पीछे क्रम दिये गए और उन्हें एकत्र वा संगृहीत भी किया गया। गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल तक वे सभी ग्रन्थ भी, संभवतः, लिपिबद्ध नहीं किये जा सके थे, यद्यपि उनके अध्वर्यव-अध्यापन की परंपरा उसके बहुत पहले से ही प्रचलित थी। उनके आधार पर विविध मतों या संप्रदायों की स्थापना तक होती आ रही थी। ऐसे धर्म-ग्रन्थों की चर्चा बौद्ध एवं जैन धर्मों की अनेक उपलब्ध प्राचीन रचनाओं ■ पायी जाती ■। इनमें दिये गए विवरण कहीं-कहीं किंचित् भिन्न प्रतीत होते हैं।

ब्राह्मण वा वैदिक धर्म तथा भ्रमण धर्मों के सांप्रदायिक प्रचारकों के अतिरिक्त उन दिनों कुछ ऐसे व्यक्ति भी उपदेश देते फिरते थे जिन्हें 'कवि' कहा जाता था। ये लोग विभिन्न लोकगीत गाते फिरते अथवा उसी समय उपयुक्त पद्यों की रचना कर देते। इस प्रकार, अपने अवचनों द्वारा दर्शन के गूढ़ तत्त्वों तथा नैतिक आचरण की महत्वमयी गुणियों का निम्न से निम्नस्तर के समाजों में भी, स्पष्टीकरण करते दीख पड़ते। ■ इनसे भिन्न, किंतु इसी प्रकार का महत्वपूर्ण कार्य उन लोगों का भी ■ जा सकता है, जो जाति के होते थे और 'भख' वा 'भख' कहे जाते थे। इनका पूरा काम 'नखपापं ब्रह्मण' रह करेता था और देहाती में भ्रमण करते हुए 'कर्मवाद' का उपदेश सिखा करते थे। वे 'चरख' वा 'पटञ्जि' लिये फिरते जो अधिकतर पाषाणों पर छुदे रहा करते और जिनमें स्वर्ग के सुखमय जीवन की माँकी दी गई रहती। उस काल के मौकों

ने इसी कार्य के लिए 'धम्मकथिकों' की भी एक परंपरा प्रचलित की थी जो विशेषतः 'दान', 'सील' (शील) एवं 'सम्म' (स्वर्ग) की शिक्षा देते फिरते थे । जैनियों ने, इस उद्देश्य से, जो व्यवस्था की थी उसके अनुसार उन्होंने 'नाथधम्मकहा' नाम की एक पुस्तक भी रच दी । फिर भी, उन दिनों की परिस्थिति के अनुसार, ग्रन्थ-प्रणयन की किसी वैज्ञानिक पद्धति का प्रायः सर्वथा अभाव था । जिस प्रकार धार्मिक बातों में विशेषकर वाक् क्रिया-कलाप एवं प्रदर्शन का बोलवाला था, उसी प्रकार साहित्यिक रचना-क्षेत्र में भी किसी सुव्यवस्थित कार्य-प्रणाली का आरंभ नहीं हो पाया था । गौतम बुद्ध एवं महावीर स्वामी के कारण इनमें महत्वपूर्ण सुधार हुए और हन्हें नवीन प्रेरणा भी मिली ।

आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति

गौतम बुद्ध के आविर्भाव काल की आर्थिक एवं सामाजिक परिस्थिति का परिचय प्राप्त करने के पूर्व यह ज्ञान लेना आवश्यक है कि उस समय उत्तरी भारत में किस प्रकार के लोग निवास करते थे। बौद्धों के “जातक” एवं “अवदान” ग्रन्थों तथा [] के प्रासंगिक उल्लेखों [] भी पता चलता है कि तथागत का पितृकुल शाक्य वंशीय था, जिस कारण उन्हें शाक्य मुनि अथवा शाक्यसिंह के नामों से भी पुकारते थे और “गौतम” शब्द उनके गोत्र का सूचक था। शाक्यों का उन दिनों एक अपना छोटा सा जनपद था जिसकी राजधानी कपिलवस्तु थी। उस प्रदेश के निकट पूर्व एवं दक्षिण की ओर कमशः कोलियों तथा मल्लों के राज्य थे जिनके और भी आगे वृज्जियों, लिच्छवियों, मगधों, विदिशों तथा अंग वालों के देश थे। इसी प्रकार शाक्यों एवं मल्लों के पश्चिम काशी और कोसल वालों के राज्य थे जिनके दक्षिण चेदि लोग थे। इस क्षेत्र को “मध्य देश” भी कहा करते थे। मध्य देश के पश्चिम कुरु वंशियों, मत्स्यों, पांचालों एवं शूरसेनों के प्रदेश थे जिनके क्षेत्र को मनु ने “ब्रह्मर्षिदेश” का नाम दिया है। डा० लासेन का कहना है कि यदि कोई एक रेखा उत्तर की ओर हिमालय से लेकर दक्षिण की दिशा में प्रयाग से होती हुई, और भी आगे अमरकंटक तक खींच दी जाय तो पता चल सकता है कि इसके पूर्व का क्षेत्र उस समय “ब्रह्मर्षिदेश” से बाहर का समझा जाता था।

उस काल में केवल “ब्रह्मर्षिदेश” वालों के ही लिए कहा जा सकता था कि वे विशुद्ध आर्य-परंपरा के अनुगामी हैं। इसके पूर्व अथवा बाह्य प्रदेश वालों को कभी-कभी “व्रात्य” []

कह दिया जाता था, जिसका मुख्य अभिप्राय, कदाचित्, यही था कि इन लोगों की सामाजिक व्यवस्था, विचारधारा तथा आचार-व्यवहार आर्य धर्म के ठीक अनुकूल नहीं पड़ते ■ । परंतु, फिर भी ये लोग अपने को क्षत्रिय मानते थे । मल्ल एवं शाक्य वाले तो अपने को “श्रोक्काकु” (इक्ष्वाकुः) का वंशज भी कहा करते थे । इधर के लोगों में कुलभिमान की भावना कूट-कूट कर भरी रहती थी और ये अपनी कन्याओं को दूसरे कुलों में देना पसंद नहीं करते थे । कहा तो यहाँ तक जाता है कि शाक्यों के पूर्वजों में कभी, इसी कारण, अपनी सगी नहन तक के साथ विवाह कर लेना अस्वीकृत नहीं था ।^१ इस प्रकार ये लोग अपने को दूसरों से केवल पृथक् ही नहीं समझते थे, अपितु अधिक उच्चकोटि का भी मानते थे । ये वस्तुतः किसी ऐसे आदर्श वर्ग का प्रतिनिधित्व करते ■ पड़ते थे, जो किसी कुटुम्ब वा जाति से कहीं ऊँचा है । इसलिए डा० फिख का अनुमान है कि उनके लिए प्रयुक्त होने वाले पालि शब्द “क्षत्रिय” को हम साधारण “क्षत्रिय” शब्द का ठीक-ठीक पर्याय नहीं कह सकते । इसमें संभवतः उस “राजन्य” शब्द की भी भावना निहित है जो वैदिक युग के उन विजयी आर्य वीरों अथवा उनके वंशजों के लिए व्यवहृत होता था जिनके नेतृत्व में आर्यों ने गंगा नदी के तटवर्ती मैदानों में, सर्वप्रथम, अपना सँझा फहराया था और शासन किया था ।^२

इसमें संदेह नहीं कि गौतम बुद्ध के जन्म-काल में, आर्यों के जाटुर्वर्ण्य की भावना प्रबल रूप में प्रतिष्ठित थी । यह उनके जीवन-

1. Dr. B. C. Law : Tribes in Ancient India (Poo-
na, 1943) Page 245-6.

2. Richard Fick : The Social Organisation in Nor-
th East India in Buddha's Time (University of
Calcutta, 1920) pp. 79-80,

काल में बनी रही और इसका प्रभाव, उनके द्वारा प्रचलित किये गए सिद्धांतों के रहते हुए भी, बहुत कम न किया जा सका। प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों को देखने से केवल इतना ही पता चलता है कि इसके प्रति उनके अनुयायियों की दृष्टि ठीक वही न थी जो दूसरे लोगों की थी। उदाहरण के लिए “वर्ण” शब्द से जो आशय पहले “जाति” लिया जाता था, वह प्रायः “कुल” का लिया जाने लगा। इस प्रकार शाक्यों आदि के समाज में जो विशेष महत्व “क्षत्रिय” कहे जाने वालों को दिया जाता था वह साधारण क्षत्रियों के लिए भी स्वीकार कर लिया गया। इसी कारण “क्षत्रिय कुलम्” को “ब्राह्मण कुलम्” की अपेक्षा अधिक गौरव प्रदान किया जाने लगा। इसी बात को “ललित विस्तर” जैसे बौद्ध ग्रन्थों ने इस प्रकार भी कहा है कि बोधिसत्व का जन्म केवल ब्राह्मणों अपवा क्षत्रिय कुल में ही हुआ है, जिस युग में ब्राह्मणों को विशेष महत्व दिया जाता था, उसमें वे ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे, अन्यथा वे क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते आये। क्षत्रिय कुल के लोगों को उन दिनों न केवल राज-विद्या की शिक्षा दी जाती थी, अगति उन्हें राज्यों में भी पूर्ण निष्ठा होना पड़ता था। एक ओर जहाँ वे शासन-कार्य में अभ्यस्त होना आवश्यक समझते थे, वहाँ दूसरी ओर वे अध्यात्म चिन्तन में भी समय देते थे। प्रसिद्धि तो यहाँ तक है कि उपनिषदों के रचना-काल से लेकर बहुत पीछे तक ब्रह्मर्षिदेश के ब्राह्मण इन क्षत्रियों के निकट आध्यात्मिक विद्या की गुप्तियाँ सुलझाने के लिए आया करते थे और यहाँ से प्रायः संतुष्ट होकर वापस जाते ।

बौद्धों एवं जैनियों के प्राचीन ग्रन्थों में सभी ब्राह्मणों को भी केवल एक ही कोटि का नहीं रखा गया है। इनके स्पष्टतः दो भिन्न-भिन्न वर्ग कर दिये गये हैं जिनमें से प्रथम को वास्तविक आदर्श ब्राह्मण कह सकते हैं और दूसरे को ‘संसार’ नाम दे सकते हैं। आदर्श ब्राह्मणों की कोटि में आने वाले वे लोग समझे जाते थे जो

वस्तुतः शास्त्रीय ढंग से शिक्षित होते थे और जो सदाचारी भी रहा करते थे। परंतु वे लोग जो केवल किसी ब्राह्मण कुल में जन्म तक ही लिये रहते थे, किन्तु जो सर्व साधारण से अधिक भिन्न भी न थे, 'संसारी' ब्राह्मण होते थे। आदर्श ब्राह्मणों को प्रतिष्ठा नरेशों के यहाँ उनके धार्मिक कृत्यों के अवसरों पर हुआ करती थी और वे पुरोहित भी माने जाते थे। गौतम बुद्ध के आरंभिक-काल में यथादि के अनुष्ठानों की कमी नहीं थी और ऐसे समय लोग उनका सदा नेतृत्व किया करते थे। इसके सिवाय उन दिनों का विवरण देने वाले ग्रन्थों से भी यह पता चलता है कि ये लोग ज्योतिषियों के रूप में शुभाशुभ कथन किया करते थे। मंत्र जाल के प्रयोग करते थे, टोटकों एवं विविध प्रकार के उपचारों में कुशल समझे जाते थे और कई बातों में परामर्श भी देते रहते थे। किन्तु संसारी समझे जाने वाले ब्राह्मण अपनी व्यक्तिगत जीविकाओं में लगे रहते थे और उन्हें कभी कोई विशेष महत्त्व नहीं दिया जाता था। ऐसे ब्राह्मण प्रायः कृषि एवं पशु-पालन में निरत रहते थे जो कुछ अंशों तक ब्रह्मविदेश तक की ओर भी स्वीकृत था। परंतु इधर के लोग अपने हाथ से इल भी चला लेते थे तथा अपने आप बाजारों में जाकर अन्नादि का कय-विक्रय किया करते थे। इन लोगों के लिए यह भी कहा गया है कि ये लोग कभी-कभी बटुई का काम करते थे और बहेलियों की जीविका को स्वीकार कर लिया करते थे। इसीलिए ऐसे ब्राह्मणों की, अपने समझ में, अधिक प्रतिष्ठा नहीं थी और इन लोगों के ही कास्त्व, सारे ब्राह्मण वर्ग की भी निन्दा कर दी जाती थी। अतएव ब्राह्मणों को कभी-कभी अपने आपको आदर्श सिद्ध करने में बदलाना पड़ता था कि हम यहाँ के न होकर मूलतः पश्चिमोत्तर प्रदेशों के निवासी हैं और इस दृष्टि से इनका एक 'उदीच्य' ब्राह्मणों का धृक् उपवर्ग ही बन गया था।

चातुर्नर्य के तीसरे वर्ग को अधिकतर वैश्य का नाम दिया जाता

है और बौद्ध ग्रन्थों में इसे 'वेस्सवा गहपत्ति' भी कहा गया है। 'गहपत्ति' शब्द गहपति के लिए आया है, जिसके अनुसार कहा जा सकता है कि इस वर्ग के लोगों की प्रमुख पहचान उनके अपने गृहों में रह कर प्रबंध करने, जीविका चलाने, अथवा दूसरे शब्दों में व्यवहार निरत रहने में ही पायी जा सकती थी। ये लोग भी कुषि-कर्म और पशु-पालन किया करते थे, किन्तु इनकी विशेषता इनके वाणिज्य व्यवसाय एवं धनवृद्धि में ही देखी जाती थी। ये लोग, इसीलिए बराबर कोषाध्यक्ष एवं बैंकर हुआ करते थे और इनके कार्य का विशेष महत्व केवल आर्थिक दृष्टि से ही था। किन्तु, इसी कारण, ये अपने को सर्व साधारण ■ कहीं अधिक ऊँचे स्थान का अधिकारी भी समझा करते थे, जिससे इनको "भेड्ढि" भी कहा करते थे। पता चलता है कि उन दिनों इनके वाणिज्य का विस्तार सुदूर देशों तक था, जहाँ ■ पोतों द्वारा भारतीय वस्तुओं को पहुँचा कर वहाँ इनका विक्रय करते ■ तथा वहाँ से विभिन्न वस्तुएँ ■ करके लाया भी करते थे। समाज में इनकी प्रतिष्ठा कम नहीं थी। इसी कारण, ■ भी अपने को प्रायः उसी प्रकार कुलीन मानने का दम भरते, जिस प्रकार जत्तियों अथवा ब्राह्मणों के वहाँ चलन था। ये लोग अपना वैवाहिक सम्बंध भरसक अपने वर्गवालों में ही करना चाहते थे, रक्त-शुद्धि को सुरक्षित रखने की ओर प्रयत्नशील रहते तथा अपने कुल क्रमागत आचार-व्यवहार के विपरीत जाना पसंद नहीं करते, जिस प्रकार जत्तियों एवं ब्राह्मण किया करते थे। इनका व्यवसाय विशेषकर नगरों में हुआ करता था, जहाँ "आपण" वा दुकानें रहा करती थी और जहाँ "श्रैतराण्यों" में अधिक वस्तुएँ सुरक्षित भी कर दी जाती थीं।

एत्यों का वस्तुतः कोई पृथक् वर्ग नहीं था, न कोई वैसा संगठन ही वर्तमान था। इनमें अधिकतर उन सभी लोगों की गणना कर दी जाती थी जो पहले बतलाये गए तीनों वर्गों से भिन्न भेदी के थे। ये लोग या तो सेवानृत्ति अथवा नौकरी किया करते थे

अथवा उन तीनों वर्गों में से किसी न किसी के कार्य में सहायता देने की दृष्टि से श्रमिक जीवन स्वीकार कर लेते थे। इनकी न तो खतियों की जैसी कोई कुल-परंपरा थी, जिसके कारण इन्हें समाज में विशेष महत्व दिया जाता, न इनका कोई सम्बंध उन धार्मिक कृत्यों के साथ रहा करता जिनके विशेष होने के कारण ब्राह्मण वर्ग प्रतिष्ठा का था और न इनके पास कोई वैसा संपत्तिजन्य साधन ही रहा करता था, जिसके पर इन्हें कोई प्रधानता दी जाती। इसके विषय उनमें बहुत से लोग ऐसे भी थे जिनके कार्य को प्रायः निन्दनीय ठहराया जाता और जो इसी कारण, कभी-कभी अस्पृश्य तक मान लिये जाते। ऐसे लोगों में चांडाल, पुक्कुसों, निषादों, आदि की गणना की जाती थी और ये ग्रामों के बाहर बसाये जाते थे। शूद्र तथा चांडालादि कहे जाने वाले लोग अपनी व्यक्तिगत जीविका भी कर लेते थे, किन्तु उनका कोई सामाजिक महत्व नहीं था। बौद्ध जातकों तथा उस प्रकार के अन्य बौद्ध ग्रन्थों में भी ऐसे लोगों की चर्चा प्रभुर मात्रा में की गई मिलती है, जिससे पता चलता है कि, यद्यपि बौद्ध धर्म के अनुसार, किसी प्रकार के वर्ग वैषम्य को प्रोत्साहन देना उचित नहीं माना जाता था। फिर भी उस समय की सामाजिक परिस्थिति पर ध्यान रखते हुए, इसके प्रत्यक्ष अस्तित्व को कभी झुकाया नहीं जा सकता था।

गौतम बुद्ध का आविर्भाव-काल एक ऐसा युग था जबकि, आर्थिक जीवन की दृष्टि से, कई महत्वपूर्ण बातें देखने में आतीं। इस काल में भारत के विभिन्न दक्षिणी प्रदेशों तथा कई एक बाहरी देशों का भी उत्तरी भारत के साथ संपर्क स्थापित हुआ, नये नगरों का निर्माण हुआ तथा विशेषकर नागरिक जीवन की ओर प्रवृत्ति बढ़ी और इसके साथ ही सामूहिक व्यवसाय प्रणाली का विकास भी आरंभ हुआ। नगर उन दिनों प्रायः दीवारों से घिरे होते थे और उनमें राजाओं के महल, व्यवसायियों के घर तथा सर्वसाधारण के मकान मो रहा रते

ये। इनमें से अधिकांश लकड़ी के बने होते थे। राजप्रासादों का निर्माण पत्थर से किया गया रहता था और ईंटों के भी बने मकानों की कमी नहीं रहती थी। निर्धन परिवारों के घरों का कभी-कभी छप्परो से बना होना भी लिखा मिलता है। कुछ जैन ग्रन्थों के देखने से पता चलता है कि वणियग्राम अर्थात् वैशाली नगर में वहाँ के ब्राह्मण निवासी तथा क्षत्रिय नागरिक विभिन्न सुहरजों में घृष्टक-पृथक् रहा करते थे और खांडाल तथा पुनकुष बाहर रहते थे। बड़े-बड़े नगरों के बीच एक दूसरे तक जाने-आने के लिए वाणिज्य मार्ग बनाये गए थे। उदाहरण के लिए आबस्ती से लेकर प्रतिष्ठान तक उत्तर से दक्षिण की ओर एक सुदीर्घ मार्ग था, जिसके बीच-बीच में ठहरने के स्थान भी थे। उत्तर से दक्षिण पूर्व की ओर आबस्ती से राजगृह तक एक मार्ग था, जिसमें पहाड़ियों की तलहटियों से होकर घूमते हुए आने की व्यवस्था थी। बीच-बीच में नदियों के पार करने का भी प्रबंध था तथा पूर्व पश्चिम आने-आने के ऐसे मार्ग नदियों से होकर भी जारी किये गए। जातकों समुग्री मार्गों और बन्दरगाहों की भी खर्चा आती है।

ग्राम प्रायः दो प्रकार के हुआ करते थे, जिनमें से अधिकतर किसान रहते थे और दूसरों में उद्योग-धंधों वाले रहा करते। कहीं-कहीं तो कतिपय ऐसे ग्रामों का भी पता चलता है जिनमें केवल एक ही वर्णों लोग, जैसे ब्राह्मण अथवा क्षत्रिय ही रहा करते थे। परंतु सधारणतः यही परंपरा प्रचलित थी कि प्रत्येक ग्राम में प्रायः सभी प्रकार के लोग रहा करें। इसके अतिरिक्त अधिकतर यह भी देखा जाता था कि खेतिहर लोग छोटे-छोटे ग्रामों में रहा करते हैं, किन्तु उद्योग-धंधों के लोग बड़े-बड़े नगरों की ओर बढ़ते जा रहे हैं। ग्रामों की अस्तित्वों के चारों ओर खेतिहरों खेत रहते थे, जिन्हें वे लोग जोतते-भेते रहते थे। किन्तु इनको दूसरे को हस्तांतरित करना वे बहुत कम पसंद करते थे। लगान खेतों में उपजे हुए अनाज के

ही किसी न किसी अंश में, देने की प्रथा थी और इसे वसूल करके सरकारी खान्यागारों में रख दिया जाता था। प्रत्येक ग्राम वाले आपस में मिलकर कुँए खोद लिया करते थे और आवश्यकतानुसार कभी-कभी बाँधों का भी निर्माण किया करते थे। ग्रामों में चंदा करके सार्वजनिक मंदिर अथवा अन्य ऐसे स्थानों के बना लिया करने की व्यवस्था हो जाती थी और बृद्ध जन इनके प्रबंधक रहा करते थे। “गहपति जातक” से यह भी पता चलता है कि आवश्यकता पड़ने पर कभी-कभी पूरे ग्राम की ओर से सामूहिक क्रोध भी ले लिया जाता था।^१

ग्रामों में खेतिहरी या किसानों का काम अधिक लोकप्रिय दीख पड़ता था, किन्तु कई एक उद्योग-धंधे भी ऐसे थे जिनका विशेष प्रचार था। इनमें से सबसे अधिक प्रसिद्ध कपड़े बुनने, लुई-कढ़ाई करने तथा कम्बल तैयार करने के व्यवसाय थे जो प्रायः नगरों में भी प्रचलित थे। ऊन, कपास तथा रेशम इन तीनों ही प्रकार के कपड़े बुने जाते थे और बौद्ध भिक्षुओं की धोती की तैयारी के लिए पोंछे पृथक् प्रबंध भी होने लगा था। बेरीगाथा से पता चलता है कि महीन रेशम कपड़ों के लिए उन दिनों बनारस अधिक प्रसिद्ध था।^२ दूसरे व्यवसायों में लुहारों का काम, बड़ईगिरी, राजगिरी, कुनारी आदि ऐसे थे जो विशेष प्रचलित थे। मिट्टी के बर्तन बनाने वालों तथा हलवाई आदि की भी कमाई नहीं थी। ऐसे व्यवसायी अपने-अपने स्थानों पर रह कर करते थे, किन्तु उनके बीच कभी-कभी पारस्परिक संगठन भी दीख पड़ता था। इनके कई गणों

1. Dr. Narayan Chandra Bandyopadhyaya : 'Economic Life & Progress in Ancient India' (University of Calcutta, 1945), 235.

2. Do. Page 242.

वा संघों की चर्चा बहुत से जातकों में की गई मिलती है, किन्तु, वास्तव में, इनका विकास प्राचीन वेदों तक के समय से होता चला आया था। इन व्यवसायों के कारण समाज में विभिन्न प्रकार के लोगों के संगठन हो गये थे, किन्तु इनके अतिरिक्त कुछ जीविकाएँ भी थी जो कम महत्व की न थी। ऐसी जीविकाओं में प्रमुख वे थी जो वैद्यक, ज्योतिष, शिक्षण-कार्य आदि से सम्बंध रखती थी और अन्य वे थी जो नाई, रसोइया, धोबी, साईं, हाथीबान, माली, मलाह, फसाई, रथवाह, गणिका आदि की थी जो कुछ निम्नस्तर की समझी जाती थी। जीविकाएँ अधिकतर कुल-कमागत समझी जाती थी और इन्हें छोड़ने का प्रयत्न बहुत कम किया जा सकता था।

इस प्रकार शीतम बुद्ध के आविर्भाव-काल में सामाजिक परिस्थिति एवं आर्थिक परिस्थिति में भी रुढ़िवादिता कम नहीं थी। वर्ण-व्यवस्था का पूरा प्रचार था, किन्तु, कुलाभिमान की मात्रा अधिक हो जाने से, "लुत्थिय" वर्ग के लोग अपने को विशेष माना करते थे। यह प्रवृत्ति प्रायः संहितों में भी पायी जाती थी और कुल-कमागत बातों को विशेष महत्व, बहुत से व्यवसायों तथा जीविकाओं से भी दिया जाता था। शीतम ने ऐसी बातों की व्यर्थता की ओर लोगों का ध्यान अवश्य दिखाया और इस ओर न्यूनाधिक सुधार भी हुए। किन्तु उनका प्रमुख उद्देश्य आध्यात्मिक होने के कारण, ऐसी बातों में यथेष्ट परिवर्तन नहीं लाया जा सका। उनकी कर्मवाद एवं जन्मांतर सम्बंधी धारणाओं का आश्रय पाकर इनके बहुत से अंगों के स्वाभाविक विकास में ही सहायता मिली।

जातकों में सामाजिक जीवन का चित्रण

गौड़ जातकों की कथाओं में हमें प्राचीन भारत के सामाजिक एवं पारिवारिक जीवन का एक जीता-जागता चित्र देखने को मिलता है। कहने को तो ये रचनाएँ केवल भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की ही घटनाओं के विवरण प्रस्तुत करती हैं किन्तु, इसमें संदेह नहीं कि इसी व्याज से हमें इनमें उस समय के भी लोगों की एक क्रांती मिल जाती है, जब इनकी परमयी गाथाओं का पहले-पहल निर्माण हुआ होगा। इतना तो निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है कि भारतीय जीवन सम्बंधी जो दृश्य ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में अंकित किये गए, अथवा जो साँची, भरहुत और अमरावती वाले चित्रों में खींचे पड़ते हैं, उनके बीजरूप का पता हमें इन गाथाओं में अवश्य लग जाता है। यह असंभव नहीं कि इन जातकों का गद्यमयी अङ्ककथा वाला अंश इसकी सन् के पीछे वाली पाँचवीं शताब्दी की रचना ठहर जाए। किन्तु फिर भी इतना स्पष्ट कि उसमें भी तत्कालः उन गाथाओं की ही ठीक-ठीक अनुसरण का प्रयत्न किया गया होगा। इन जातकों में हमें न केवल भारतीय समाज के तत्कालीन संगठन का ही संकेत उपलब्ध होता है, अपितु इनके अंतर्गत हमें, उसके आर्थिक एवं राजनीतिक पहलुओं से लेकर उसकी साधारण से साधारण बातों तक भी प्रत्यक्ष चित्रण पूरे विवरण के साथ किया गया मिल जाता है। इनमें से कम पूर्वोत्तर भारत का जो प्राचीन सांस्कृतिक इतिहास उपलब्ध हो सकता वह, कई दृष्टियों से सर्वथा रोचक और सजीव होगा।

जातकों के अध्ययन से पता चलता है कि इनके रचना-काल वाले युग में यहाँ वर्ण-व्यवस्था का पूर्ण प्राधान्य रहा।

ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों एवं शूद्रों के पृथक्-पृथक् वर्ग, भगवान् बुद्ध देव का आविर्भाव होने के पहले से ही वर्तमान थे। वे फिर उनके बहुत पीछे तक प्रायः वैसे ही बने रह गए—उनमें केवल थोड़ा ही परिवर्तन लाया जा सका। इन चारों के अतिरिक्त एक अन्य वर्ग चांडालों, पुष्कसों आदि का भी था जो इनके सीधे संपर्क से सदा दूर ही रहता आया, किन्तु जिसका अपना ही महत्व था। इन सभी वर्गों को उन दिनों अधिकतर 'जाति' को संज्ञा दी जाती थी और कभी-कभी इन्हें 'वर्ण' अथवा 'कुल' भी कह दिया जाता था।¹ इनमें संमिलित किये जाने वाले व्यक्तियों का वर्गीकरण साधारणतः इस आधार पर किया जाता था कि किस वंश में उन्होंने जन्म ग्रहण किया है। परंतु, ऐसा करते समय, सदा उनकी जीविका के प्रति भी ध्यान देना उतना आवश्यक नहीं समझा जाता था। जातकों को पढ़ते समय हमें ऐसा लगता कि उनके रचना-काल तक, 'चातुर्वर्ण्य' वा 'गुणकर्म' के अनुसार किया गया मारभिक विभाजन बहुत कुछ पुराना पड़ चुका है। प्रत्येक जाति की अपनी अपनी विशेषताएँ अवश्य रह गई थीं। किन्तु वह उनकी रक्षा के प्रति उतनी हद नहीं रखा करती थी, उसका विशेष ध्यान अपनी रक्त-शुद्धि की ओर रहता था। यद्यपि इस बात में हमें यहाँ प्रायः शिथिलता ही देखने को मिलती है।

वैवाहिक सम्बंध के विषय में यह एक साधारण सा नियम बन गया था कि उसका, अपने सजातियों में स्थापित होना ठीक है। जातकों में हम इसका पालन, प्रायः प्रत्येक स्थल पर इसी के अनुसार होता हुआ देखते हैं। एक पिता को अपने पुत्र के प्रति स्पष्ट शब्दों

1. Richard fick : The Social Organisation in North East India (University of Calcutta, 1920) P. 34 (footnote)

में कहते हुए पाते हैं कि “समजातिक कुल कुमारिक गण्ड”^१ अर्थात् समान जाति वा कुल की ही कुमारी के साथ विवाह करो। इन बातों में माता-पिता अपनी संतानों की किसी विशिष्ट प्रवृत्ति की ओर ध्यान देते नहीं जान पड़ते। इसमें उन्हें, कदाचित् इस बात का भय बना रहता है कि यदि विवाह कहीं बे-मेल हो गया तो, उसके परिणाम स्वरूप वैसी ही संतान उत्पन्न होगी जैसा, “विनीलक जातक” वाले हंसराज द्वारा कौबी के साथ सहवास किये जाने पर, निराश्रय बच्चा पैदा हो गया था और उसे, अंत में, अपने यहाँ से हटा देना भी पड़ा था।^२ फिर भी विवाह का होना भिन्न गोत्रियों में ही उत्तम समझा जाता था, समान गोत्रियों में नहीं, जैसा “कण्ठज जातक” वाले उदाहरण में भी स्पष्ट किया गया है।^३ इसी प्रकार विवाह के लिए कन्याओं की उचित अवस्था २० से ले कर ३० वर्षों तक की भी मान ली जाती थी और इस दशा में उन्हें अपने लिए योग्य बर चुँड़ लेने की प्रायः छूट भी दे दी जाती थी, जैसा “अम्ब जातक” में कहे गए कतिपय वचनों द्वारा भी स्थित होता है।^४ परंतु इसमें कन्याओं का कारण, वरों को कभी-कभी धोखा भी हो जा सकता था, जैसा “कुक्कुट जातक” वाले कुक्कुट को, बिल्ली के कारण, संभव हो गया।^५ “उदय जातक” वाले उदाहरण से तो ऐसा भी प्रतीत होता है कि उन दिनों कदाचित्, कोई कन्या विक्रय की भी प्रथा रही होगी।^६ इस बात की पुष्टि “संक्रिय जातक” से भी होती जान पड़ती है जहाँ भार्या के लिए “धनवक्तीता” शब्द का विशेषण दिया गया है।^७ जातकों में हमें इस बात का पता नहीं

1. Do (quoted at p 52)

२. जातक सं० १ ६० (साहित्य सम्मेलन प्रयाग)

३. वही, सं० २०३। ४. वही, सं० ३४४। ५. वही, सं० ३८६।

६. वही, सं० ३५८।

चल पाता कि वैवाहिक विधियों का अनुष्ठान कभी पुरोहितों के माध्यम से पूरा किया जाता था। यहाँ पर ऐसे ही उदाहरण मिल जाते हैं जिनमें पारस्परिक प्रेम-भाव रखने वाले कन्या-वर अपना सम्बंध किसी श्मशान क्षेत्र तक में भी अनुष्ठित कर लिया करते हैं।^१

“कडहारि जातक” से पता चलता है कि अक्षय राजा ने किसी समय उद्यान में लकड़ी चुनती हुई किसी कन्या पर आसक्त हो उसके साथ सहवास किया तथा फिर उसके गर्भ से उत्पन्न बालक को उप-राजा तथा उसकी माँ को पटरानी बनाया। एक अन्य ‘सुजाता’ नामक जातक से भी प्रकट होता है कि राजा ने किसी बेर बँचनेवाली माली की लकड़ी को ही अपनी पटरानी बना लिया था।^२ वास्तव में राजाओं के लिए इस प्रकार का प्रथा-विकृत व्यवहार करना उन दिनों अनुचित नहीं समझा जाता था और उनके ऐसे कार्य प्रायः अपवाद स्वरूप भी मान लिये जाते थे। राजा लोग, अनेक स्त्रियों के साथ विवाह करके, उनमें से जिन्हें भी चाहें, कट त्याग दिया करते थे और यह केवल उनकी इच्छा पर ही निर्भर रहता था। परंतु विवाहिता पत्नी को सदोष पाकर अथवा, उससे किसी कारण सह होकर, उसका परित्याग कर देना कदाचित् औरों के लिए भी संभव था। “बहक जातक” वाले ब्राह्मण ने अपने साथ निंद्य परिहास करनेवाली ब्राह्मणी को घर से पीट कर निकाल दिया और वह दूसरी पत्नी भी ले आया।^३ “कुस” नामक एक दूसरे संवे जातक-वाली कथा से यह भी अनुमान किया जा सकता है कि पुत्र न होने की दशा में, उन दिनों नियोग द्वारा इस अभाव की पूर्ति कर ली जाती थी। इसके लिए बड़े-बड़े राजाओं तक को अपनी पटरानी “वर्मनटी” के रूप में, दूसरों के हाथ दे देनी पड़ती थी। सबसे उल्लेख-

१. वही, सं० ५३०। २. वही, सं० १२३ (अभिलक्ष्य जातक)।

३. वही, सं० ॥ ४. वही, सं० ३०९। ५. वही, सं० १३१।

नीय बात तो यह है कि राजा अपनी पटरानी को सर्वसाधारण के सुपुर्द कर देता था। वह इस प्रकार चाहे जिस किसी के भी सहवास करके, उसके द्वारा संतान उत्पन्न करा लेती थी और यदि पुत्र होता था तो वही राजकुमार भी कहला सकता था।^१

जातकों वाले भारतीय में, एक ओर जहाँ वैवाहिक सम्बन्ध जोड़ते समय, रक्त-शुद्धि की ओर ध्यान दिया जाता है वहीं दूसरी ओर सहभोज के अवसरों पर एवं भोज्य पदार्थों का स्पर्श करते समय भी, कुलीनता एवं पवित्रता का विचार कर लिया जाता है। 'महंशाल जातक' से पता चलता है कि महानाम संरक्षक एक क्षत्रिय ने स्वयं अपनी पुत्री के साथ भी भोज नहीं किया, क्योंकि वह उसकी अवैध संतान थी और इस बात को छिपाने के लिए उसे युक्तियों का आश्रय लेना पड़ा।^२ अपवित्र हाथों द्वारा स्पृष्ट भोजन का ग्रहण करना अथवा अकुलीन के हाथ का स्नाना लगभग उतना ही निषिद्ध था जितना उच्छिष्ट भोजन का खा लेना और दोनों ही दंडनीय भी थे। फिर भी हम देखते हैं कि 'मातंग जातक' वाले बड़े भोज के अवसर पर जो ब्राह्मण एक चाँडाल को उच्छिष्ट भोजन तक नहीं देना चाहता उसे, फिर उसी चाँडाल के यहाँ और प्रायः उसी प्रकार का भोजन दंड स्वरूप ग्रहण करना पड़ता है^३। 'सतधम्म' नामक जातक में इस प्रकार की भी कथा आती है कि माणवक ब्राह्मण ने पहले एक चाँडाल का मात खाने से इनकार कर दिया। किन्तु जब उसे जुधा ने सताया और उससे नहीं रह गया तो उसने उस चाँडाल का जुड़ा भाव तक लिया जिसके प्रायश्चित्त स्वरूप उसे (माणवक को) छिप रह कर अनायवत् भरना पड़ा।^४ परंतु 'विधुर पंडित'

१. वही, सं० ५३१।

२. वही, सं० ४६५।

३. वही, सं० ४६७।

४. वही, सं० १७६।

जातक वाले विधुर के लिए कहा गया है कि उसने एक सार्वजनिक भोज के अवसर पर सभी वर्गों का हुआ भात खा लिया ।^१

भात उन दिनों एक सामान्य भोज्य पदार्थ था जिसे सर्वसाधारण 'यागु' अथवा 'ययागु' (मांस) के साथ ■ लिया करते थे । किन्तु जिसे खाते समय, धनी-मानी व्यक्ति को मांस का भी उपयोग करना पड़ता था । मांस भोजन उस युग में कदाचित् ब्राह्मणों के लिए भी निषिद्ध नहीं समझा जाता था । इस वर्ग के लोग घट्टा नहेलिए तथा मांस-विक्रेता तक की जीविका भी करते थे । 'तेलोवाद जातक' वाली कथा में तो एक तपस्वी ने मत्स्य मांस खा कर बतलाया है कि बुद्धिमान् मांस भोजी को हिंसा जन्म पाप नहीं लगता ।^२ मांस पकाने के सम्बंध में चर्चा करते समय गोध अथवा गोह का नाम, कदाचित् सबसे अधिक लिया गया है । जान पड़ता है कि इस जीव का मांस कुछ अधिक स्वादिष्ट हुआ करता था, क्योंकि कहीं तो हम देखते हैं कि एक तपस्वी तक उसे मार कर पकाने के उद्योग में लीन है ।^३ अन्यत्र ऐसा भी पाते ■ कि, इसके पके मांस की ओर आकृष्ट होकर एक राजकुमार तक उसे चुपके-चुपके खा लेता है ।^४ इसी प्रकार सूअर के लिए भी कहा गया मिलता है कि उसे ययागु और भात खिला-खिला कर इसलिए पोसा गया था कि उसका मांस एक राजकुमारी के विवाहोत्सव पर जलपान का काम देगा और अंत में, ऐसा ही हुआ भी था ।^५ 'चुल्लपट्टम जातक' में मांस के सम्बंध में यहाँ तक संकेत मिलता है कि एक बार, भूख की वेदना न सह सकने के कारण, सात राजकुमारों ने एक-एक करके क्रमशः अपने लहंगे-भाइयों की पत्नियों को मार कर खा डाला और केवल सातवें की पत्नी ने किसी प्रकार भाग कर जान बचायी ।^६ ऐसा ही एक अन्य प्रसंग

१. वही, सं० ५५-४५ । २. वही, सं० २४६ । ३. जातक सं० ३२५ ।

४. वही, सं० ३२३ । ५. वही, सं० २८६ । ६. वही, सं० १६३ ।

‘महासुत सोम जातक’ में भी आता है, जहाँ एक राजा को भुत्थ का मंस खाने की चाट पड़ गई थी।^१ यह निश्चय ही एक अत्यंत विलक्षण सी बात है, किन्तु जातकों में इस प्रकार का वर्णन, बहुत स्पष्ट एवं असेदिग्ध शब्दों में किया गया मिलता है।

जातकों का अध्ययन करते समय हमें इस बात का भी पता चलता है कि उन दिनों के लोगों में कई व्यसन भी प्रचलित थे, जैसे वेश्या-प्रसंग की लत, सेठ पुत्रों, कर्मचारियों तथा पुरोहितों तक में भी देखने को मिलती थी। ‘उद्दालक जातक’ वाला पुरोहित उद्यान क्रीड़ा के लिए गई हुई गणिका पर आसन्न होकर उसके साथ भोग करता है और फिर उसके गर्भ से उत्पन्न पुत्र का नाम रखने के फेर में पड़ जाता है।^२ इसी प्रकार ‘कणवेर जातक’ वाली श्यामा वेश्या नगर कोतवाल पर प्रभाव डाल कर उसे अपना स्वामी बना लेती है।^३ और चाराणसी की एक दूसरी वेश्या सेठ पुत्र के हजार न देने पर उसे गर्दन पकड़ कर निकलवा देती हुई दोख पड़ती है।^४ वास्तव में उन दिनों की अन्य व्यभिचारिणी स्त्रियों के भी ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं जिनसे उस काल के नैतिक आचरण पर प्रकाश पड़ता है। ‘मुत्सीम जातक’ की राजमाता तक अपने पुरोहित पर आसक्त हो जाती है और वह उसे अपनाने के फेर में पड़ कर अस्वस्थ बन जाती है। अतएव, मातृभक्त राजा को, उसे संवृष्ट करने के लिए, पुरोहित को राज सिंहासन पर बिठा तथा उसे उसकी पटरानी बनाने का, स्वयं उपराजा बतना पड़ जाता है।^५ इसके सिवाय एक अन्य जातक में हमें यह भी दीख पड़ता है कि उसका राजा अपनी रानी को, अमात्य के साथ सहवास कर लेने पर भी, कोई दंड नहीं देता

१. वही, सं० ५३७। २. वही, सं० ४८७ ३. वही, सं० ३१८।
४. वही, सं० ४२५। ५. वही, सं० ४६१।

प्रस्तुत वह उस अमात्य को भी लम्हा ही कर देता है।^१ 'बन्धन मोक्ख जातक' वाले राजा की रानी तो उसे घोसा देकर क्रमशः चौसठ व्यक्तियों के साथ सहवास करती है।^२ एक ब्राह्मण की पत्नी अपने प्रतिवेश की जाट का जूठा भात खिला देती है।^३ और 'समुग्ग जातक' वाली एक स्त्री राजस की कोख में कैद रहती हुई, पर-पुरुष के साथ भोग कर लेती है।^४ एक सौतेली माँ के भी इसी प्रकार अपने पुत्र के प्रति रमणोच्छा का प्रस्ताव करना तथा उसकी अस्वीकृति पर उसे मरवा डालने की चेष्टा भी करना एक जातक में आता है।^५ बौद्ध जातकों में न केवल स्त्रियों की ऐसी चारित्रिक निर्बलता के ही दृष्टांत मिलते हैं, अपितु 'अनमिरत जातक' वाली कथा में एक शिष्य द्वारा उनके दुराचार की शिकायत किये जाने पर उसके प्रति आचार्य का ऐसा कथन भी पाया जाता है कि :

“यथा तद्धी ■ पम्भो च, पायागारं समा गया ।

एवं लोकिस्थियो नाम, नासं कुम्भस्ति परिहता ।”^६

अर्थात् जैसे नदी, महामार्ग, मदिरालय, चर्म-शालाएँ तथा प्याऊ ■ किसी के लिए होते हैं वैसे ही लोक में स्त्रियाँ भी हैं, अतः पंडित उन पर क्रोध नहीं करते ।

जातकों में व्यभिचार के अतिरिक्त सुरापान जैसे कुछ अन्य व्यसनो ■ भी उदाहरण देखने को मिलते ■ । सुरापान की एक चर्चा 'सुरापान जातक' में ही आती है जहाँ एक राजा ने, मदिरा जैसे उत्तम पेय को तपस्वियों के लिए अलभ्य समझ कर, इसे उन्हें प्रेम से पिलाया है।^७ इसके सिवाय कहीं-कहीं पर ऐसे प्रसंग भी दीख

१. जातक सं० १६५, पक्ख पत्थर जातक ।

२. वही, सं० १२० । ३. वही, सं० २१२, उक्खिट्ठिमच जातक

४. वही, सं० ३३६ । ५. वही, संख्या ४०२, महापटुम ■ ।

६. वही, सं० ६५ । ७. वही, सं० ८१ ।

पड़ते हैं जहाँ युद्ध में विजय पाने पर 'सुरा नक्षत्र' नामक सार्वजनिक उत्सव मनाया गया है। इसी प्रकार एक दूसरा भी व्यसन जो उन दिनों के लोगों में बहुत प्रचलित था वह जुए के खेल का था। 'विधुर पंडित जातक' वाली कथा में आता है कि द्यूत के व्यसन वाले धन-जय कोरव्य के लिए यह उसकी एक बहुत बड़ी कमजोरी का कारण बन गया था। इस व्यसन की अन्यत्र जहाँ कहीं भी कोई चर्चा आयी है वहाँ पर इसे पूर्ण रूप से हानिकर सिद्ध करने की ही चेष्टा की गई है।^१ जातकों में हमें उन दिनों के कतिपय लोग चोरी के लिए सेंध भारते फिरते अथवा दल बाँध कर दकैती करते हुए भी जान पड़ते हैं। 'कणवेर जातक' से पता चलता है कि ऐसे लोग प्रायः नगर की वेश्याओं के साथ भी संपर्क रखते थे और अक्सर पाते ही उनके भी गहने-कपड़े चुराने में नहीं चुकते थे।^२ डाकू लोग अधिकतर सौदागरों की गाड़ियों पर लदे माल को छूट कर भाग जाते थे और इसमें उन्हें रत्नों के लूटना भी पड़ जाता था।^३ 'भयङ्क तिनहु जातक' के पढ़ने से विदित होता है कि पांचाल नरेश के राज्य में दिन के लूटे तथा रात को चोरों की बधा करती थी।^४ उन दिनों के राज्यों में प्रायः सर्वत्र घूस लेने की भी चलन देखी जाती है जिससे जनता को बहुत हानि उठानी पड़ती है। 'कणवेर जातक' में हम यदि कोतवाल को घूस लेते देखते हैं^५ तो 'शक्ति लक्ष्मण जातक' में पता चलता है कि शकुन-विचार करने वाले ब्राह्मण रिश्वत लिया करते हैं^६ और 'धम्मद जातक' वाले कालक नामों सेनापति भी इस दुगुण से रहित नहीं जान

१. वही, सं० ५३५। २. वही, सं० ३२ अण्डभूत ।

३. वही, सं० ३१८। ४. वही, सं० २६५ सुरपा जातक।

५. वही, सं० ५२०। ६. वही, सं० ३१८।

७. वही, सं० १२६।

पकता ।^१ इसी प्रकार 'खगडहाल जातक' वाली कथा में न्यायाधीश को घूस लेते देखते हैं ।^२ इसके साथ ही हमें 'किञ्चुन्द जातक' से विदित होता है कि ऐसे ही एक अन्य कर्मचारी को इस कर्म का कुफल भी भोगना पड़ जाता है ।^३ सबसे उल्लेखनीय बात तो यह जान पड़ती है कि 'मरु जातक' वाला राजा तक स्वयं तपस्वियों से घूस लेकर उनके झगड़े को बढ़ा दिया करता है ।^४

जातकों वाली कई कथाओं द्वारा यह भी प्रकट होता है कि उन दिनों के लोगों में अंधविश्वास की भी कमी नहीं । "नक्खत जातक" से पता चलता है कि एक बार देहात वाले कुछ व्यक्तियों ने नगर में जाकर विवाह के लिए कोई लड़की पक्की ।^५ परंतु जब उन्हें किसी आश्विष्यक अथवा ज्योतिषी से पता चल गया कि वह दिन मंगल-क्रिया के लिए शुभ नहीं है तो वे नहीं गए और वह लड़की दूसरे को दे दी गई । इसी प्रकार "मंगल जातक" में आता है कि एक अंधविश्वासी ब्राह्मण ने अपने कुछ कपड़े इसलिए फेंक दिये कि उनमें उसे अशुभ लक्षण दिखायी पड़े ।^६ उन दिनों के सर्व-साधारण में इस प्रकार का भी विश्वास दीखता है कि छींक का आना अपशुक्रन सूचित करता है और इसी कारण ने छींक आने पर बहुधा जीभ अथवा लियों कह कर उसका दुष्परिणाम दूर कर देने के प्रयत्न करते हुए भी पाये जाते हैं ।^७ "ददम जातक" वाली कथा से तो यह भी^८ होते देर नहीं लगती कि उन दिनों के लोग न केवल अंधविश्वासी थे, प्रत्युत अंधानुसरण भी कर जाते थे । उन्हें यहाँ तक भी नहीं सूझ पाता था कि केवल किसी साधारण से व्यक्ति के ही

१. वही, सं० २२० ।

२. वही, सं० ५४२ ।

३. वही, सं० ५११ ।

४. वही, सं० २१३ ।

५. वही, सं० ४६ ।

६. वही, सं० ८० ।

७. वही, सं० १ ५५ ।

इतना कह डालने पर कि पृथ्वी उलटने जा रही है हम बिना समझ-बूझके इधर-उधर दौड़ने-भागने क्यों लग जायें तथा सर्वत्र आतंक फैला दें।^१ इसी प्रकार उन दिनों के ब्राह्मण चांडाल की ओर से आवी हुई हवा द्वारा दूषित और पतित हो जाने के भय से आतंकित हो कर प्रायः दिशाओं का साधारण ज्ञान तक भी खो दिया करते।^२

उन दिनों के लोग सत्य-क्रिया पर भी पूरी आस्था रखते थे और इन जातकों में आता है कि इससे उनके कार्य भी सिद्ध हो जायें करते थे। उदाहरण के लिए “भृगुवक्त्र जातक” वाले काशीराज की पटरानी ने ‘सत्य-क्रिया’ के ही बल पर संतान नाम किया।^३ “महा-जनक जातक” वाले राजा के कनिष्ठ राजकुमार ने सत्य-क्रिया करके अपनी हथकड़ी नेड़ी तुड़वा ली तथा बंधनागार के द्वार तक खुलवा दिये। “साम जातक” वाले अंधे माता-पिता ने अपने भवशकुमार जैसे पुत्र को सत्य-क्रिया के ही द्वारा विधात वायों के विष से मुक्त कर दिया।^४ परंतु इतना होते हुए भी सत्य-क्रिया की विधि का कोई स्पष्ट विवरण नहीं पाया जाता, केवल यही पता चलता है कि इसके श्रेयस्कर परिणाम का ज्ञान मानवोत्तर प्राणियों तक को रहा होगा। क्योंकि “बहक जातक” में आई हुई कथा से पता चलता है कि किसी जंगल में आग लग जाने पर अपने घोसलों में अकेला पड़ा हुआ एक बटेर का बच्चा जातक सत्य-क्रिया द्वारा उसे बुझा सकता था।^५ परंतु, “सन्ध्या जातक” के अंतर्गत एक ऐसी कथा भी आयी है जिसमें किसी ब्राह्मण ने अग्निदेव को प्रसन्न करने के उद्देश्य से, उन्हें घी के साथ मिश्रित खीर पिला दी जिसका परिणाम यह निकला की आग की लपटें पर्याप्त ऊँची हो आई और उसकी पर्याकुटी भी

१. जातक सं० ३३२।

२. वही, सं० ५३८।

५. वही, सं० ५३०।

१. वही, सं० ३७७ सेवकेतु ■ ।

३. वही, सं० ५३६।

४. वही, सं० ३५१।

जल गई।^१ स्पष्ट है कि यह दृष्टांत 'बहक जातक' धाले से संबंधित है और यह कदाचित् अग्निपूजन अथवा होम-क्रिया की व्यर्थता सिद्ध करने ■ लिए आया है।

परंतु हम देखते हैं कि उन दिनों के लोगों में ■ शिक्षा ■ भी प्रकार कम न था। वे लोग विविध कलाओं में भी पारंगत होते थे। कई जातकों में कहा गया है कि उस कोटि की विद्याओं का अध्ययन करने के लिए, लोग तक्षशिला जैसे शिक्षा-केंद्रों में जाया करते थे। जातकों की मूल गाथाओं में तक्षशिला का नाम, स्पष्ट रूप में, किसी शिक्षा-केंद्र जैसा प्रयुक्त हुआ नहीं दीख पड़ता। इस कारण भी गोकुल दास दे नामक एक लेखक ने उसके, उस काल तक, ऐसा हो चुकने में संदेह प्रकट किया है और अनुमान किया है कि ■ से उस शिक्षा उन दिनों ब्राह्मण पंडितों के ही धरो पर दी जाती रही होगी तथा वहीं से अध्ययन करके लोग वेदादि के ज्ञान में पूर्ण विचक्षण हो जाते रहे होंगे।^२ परंतु जातकों की ही गद्यमयी अडकथाओं में तक्षशिला के शिक्षा केंद्र होने का वर्णन बहुत ■ शब्दों में किया गया पाया जाता है। "चित्त सम्भूत जातक" से तो यह भी प्रकट होता है कि चाणाल जाति तक के दो लड़कों ने, ब्राह्मण विद्यार्थियों के वेष में जाकर, तक्षशिला में विद्याध्ययन किया था और वहाँ से शिल्पकला की भी शिक्षा ग्रहण की थी। ■ "असदिस जातक" में इस बात की चर्चा आती है कि तक्षशिला में रह कर तीनों वेदों के साथ-साथ १८ विद्याओं तथा कलाओं की शिक्षा प्राप्त की जाती थी।^३ वहाँ पर आचार्य को एक हजार देने का नियम था और बहुत

१. वही, सं० ११२।

२. Gokuldas De; Significance of Importance of the Jatakas P. 102.

३. जातक, सं० ४६८।

४. वही, सं० १८१।

से लोग वहाँ अन्य कलाओं की भाँति धनुर्विद्या एवं हस्तशिल्प का भी अभ्यास करते थे।^१ 'सूची जातक' में एक ऐसी अद्भुत सूई के निर्माण की कथा आती है जो क्रमशः ७ कोकियों के भीतर सुरक्षित रखी गई थी और जिसकी विशेषता यह थी कि वह पानी से भरे घड़े के नीचे रखी जाने पर, उसे छेड़कर भीतर वाले जल में सीधी पहुँच जाती और उसकी सतह तक जाकर वैसे ही खड़ी रहा करती।^२

जातकों वाले युग के भारतीय समाज में पारस्परिक मैत्री भाव को भी विशेष महत्व प्रदान किया जाता था। यह सम्बंध एक समान वय, कुल, रूप, सौंदर्य अथवा धन ऐश्वर्यादि पर आधारित न रह कर उच्चशील जैसे गुणों की अपेक्षा करता था। इसकी सभसे बड़ी विशेषता यह थी कि एक मित्र दूसरे के अवसर पर किसी न किसी प्रकार काम आ जाए। 'गुण जातक' से तो यहाँ तक पता चलता कि एक बलवान सिंह के निर्बल मित्र सियार ने, समय पड़ने पर उसे बलदल से बाहर निकाल दिया।^३ परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि कभी किसी ना समझ में भी विश्वास कर लिया जाए, क्योंकि 'इंद्र समान शीत जातक' वाले हाथी ने बड़े होकर अपने रक्षक को ही मार डाला।^४ 'विधुर पंडित जातक' में तो विधुर द्वारा इस प्रकार कहलाया गया है कि मनुष्य को किसी के यहाँ केवल एक रात भी आश्रय पाकर उसे मित्रवत् मान लेना चाहिए और उसके प्रति किसी भी प्रकार अहित-चिंतन करना महान अपराध है।^५ इस प्रकार की मैत्री एवं सामाजिक एकता के भाव को अक्षुण्ण बनाये रखने के उद्देश्य से उस [] लोग प्रायः मनोरंजनों एवं महोत्सवों की व्यवस्था किया करते थे। इनके द्वारा वे समय-समय पर कहीं एक

१. जातक सं० ५२२ सर्भंग [] ।

२. वही, सं० ३८७ ।

३. वही, सं० १५७ ।

४. वही, सं० १६१ ।

५. वही, सं० ५३५ ।

स्थल पर, एकत्र होते और सामूहिक उत्साह द्वारा पारस्परिक सह-भावना की धुष्टि करते। ऐसे लोकोत्सवों में से "सुरा नक्खत" की चर्चा इसके पहले ही की जा चुकी है। जिस दिन पहले पहल, किसानों के खेतों की जोताई आरंभ की जाती थी, उस दिन वे लोग एकत्र होकर "वप्प मंगल दिवस" मनाते थे। इसी प्रकार आश्विन की पूर्णिमा के दिन "चातुर्मासिक कौमुदिनी दिवस" भी मनाया जाता था जिसका अंत में राजकीय महोत्सवों का हो गया। एक ऐसा ही अन्य महोत्सव 'इत्थि मंगल' का भी था जो प्रति वर्ष राजप्रासादों के प्रांगण में मनाया जाता था और जिसमें सजे-सजाए हाथियों की पंक्ति खड़ी की जाती थी।^१

उन दिनों के भारतीय समाज में दास-प्रथा का भी प्रचार था और वे (दास) या तो 'क्रीत' होते थे अथवा यह में ही उत्पन्न रहा करते थे। ऐसे दासों का युद्ध-क्षेत्रों से पकड़ कर आना जातकों द्वारा सूचित नहीं होता।^२ वे ढाकुओं द्वारा लूटे गए के रूप में आ जाते थे। 'सुल्ल नारद जातक' से पता चलता है कि उस समय सीमाल के ढाकुओं ने जनपद में आकर गाँव को लूटा और लोगों को दास बनाया। 'उरग जातक' से यह भी पता चल जाता है कि एक ब्राह्मण के घर प्रायः ६ सदस्यों का परिवार रहा करता था, जिसमें एक दासी भी रहती थी।^३ इन दासों वा दासियों की स्थिति अधिकतर कष्टमयी ही बनी रहती थी, यद्यपि कभी-कभी हमें उनके साथ अच्छे व्यवहार का भी पता चल जाता है। उदाहरण के लिए 'नानच्छन्द जातक' में आता है कि घर के मौलिक पुरोहित ने अपनी दासी

१. जन्मथ राय : हमारे कुछ प्राचीन लोकोत्सव, साहित्य भवन लि०,

हलाहाबाद सन् १९५३ ई० पृ० २४-८।

२. Richard Fick : Organisation etc. P. 307-9

३. जातक सं० ३७७।

४, वही, सं० ३५४।

पुण्या से भी परामर्श किया था।^१ इसके सिवाय 'कटाइक जातक' में जो कथा आती है, उसके अनुसार किसी सेठ की दासी के गर्भ से उत्पन्न दास का पुत्र उसके लड़के, अर्थात् सेठ-पुत्र की भाँति, लिख-पढ़ कर चतुर एवं भाषाविद् बन जाता है और एक अन्य सेठ की पुत्री के साथ छलपूर्वक विवाह भी कर लेता है।^२ लगभग इसी प्रकार की बातें 'कलण्डुक जातक' में भी दीख पड़ती हैं और यहाँ पर एक तोता द्वारा उसे कुछ चेतावनी भी मिलती है।^३ 'गंगमाला जातक' से तो यहाँ तक पता चलता है कि एक राजा ने किसी भिस्ती मजदूर को उस पर प्रसन्न होकर अपना आधा राज्य दिया। परंतु इस भिस्ती को फिर अपने धन से निरक्ति भी गई और अंत में उसने अपने 'आधा मासा' वाले धन पर ही संतोष कर लिया।^४

जातकों से यह भी पता चलता है कि उनके रचना-काल के समय, भारतीय समाज में विरक्त लोगों की भी कमी नहीं थी। 'युवञ्जय जातक' में एक प्रसंग आता है जिसके अनुसार कोई राज-कुमार प्रातःकाल की ओस-त्रिंदुओं को पत्तों तथा मकड़ी के जालों पर देख कर उनकी क्षणिक अवस्था द्वारा प्रभावित हो जाता है और अपने माता-पिता के रोकने पर भी ध्यान न देकर प्रवृत्ता ग्रहण कर लेता है।^५ इसी प्रकार 'चुल्ल सुत सोम जातक' वाला एक राजा भी जब वह नाई द्वारा अपने सिर से उखाड़े गए किसी सफेद बाल को देखता है तो वृद्धावस्था को निकट आयी जान कर, प्रवृत्ता के लिए प्रवृत्त हो जाता है। अपने पिता, सात वर्ष के बालक अथवा गर्भिणी पत्नी की भी एक नहीं सुनता।^६ बात केवल राजाओं में ही नहीं देखी जाती, प्रस्युत पुरोहित, उसका लड़का कभी-कभी उसका

१. वही, सं० २८६।

२. वही, सं० १२५।

३. वही, सं० १२७।

४. वही, सं० ४२१।

५. वही, सं० ४६०।

६. वही, सं० ५२५।

सारा परिवार तक इस प्रकार की विरक्ति अपनाया करता है। एक सेठ कुमार अथवा चाँदाल तक में भी यह प्रवृत्ति लगभग एक प्रकार की ही दीख पड़ती है।¹ 'गरहित जातक' में आयी हुई कथा से विदित होता है कि एक बार एक बंदर ने जो मनुष्यों के सम्य समाज में कुछ दिनों तक रह चुका था अपने साथियों में लौटकर जब अपने अनुभवों की राम कहानी सुनायी तो उन्हें मानवों के सांसारिक जीवन की ओर से घृणा हो गई। उन्होंने अपने-अपने कानों को बंद करते हुए अपने ■ स्थान तक का परित्याग कर दिया जहाँ पर बैसी निन्दनीय बातें सुनी गई थी।² प्रवृत्ति ग्रहण कर चुकने वाले व्यक्ति यद्यपि वे समाज से अलग रहते थे, किन्तु भिक्षाटन अथवा उपदेश-दान के व्याज से ■ समय के लिए उसमें आ भी जाया करते थे। इस प्रकार उनके आदर्शों द्वारा प्रायः सर्वसाधारण तक प्रभावित होते रहते थे।

जातकों की कथाओं में हमें बहुत से अंश पौराणिक अथवा काल्पनिक वार्ताओं जैसे लगते हैं। इनमें कई ऐसे भी हैं जिनमें विभिन्न मानवोत्तर प्राणियों द्वारा मनुष्यवत् व्यवहार किया जाना दिखलाया गया है। इसके सिवाय इनकी अनेक कहानियों में हमें उपदेशों का पुट देकर, किसी न किसी सांप्रदायिक भावना का प्रचार किया गया भी प्रतीत होता है। कहीं-कहीं ऐसा भी लगता है कि वहाँ, एक साधारण से प्रसंग के व्याज से मानव समाज के ऊपर व्यवस्थात्मक छूटि कसे गए हैं। परंतु इन सभी बातों के होते हुए भी वे सामाजिक प्रसंग जो इन कथाओं के माध्यम का काम करते ■ और जिनका मूलधार इनके निर्माण की पृष्ठभूमि सा बना लक्षित होता है उनका निःसंदेह अपना एक पृथक् महत्व है। इस विचार

1. Richard Fick : Social Organisation etc. P. 728.

2. जातक, सं० २१६।

से हमें इनमें ऐतिहासिक तथ्यों की कमी भी नहीं जान पड़ती, अपितु इन्हीं के द्वारा हमें प्राचीन काशीन जीवन की एक सुंदर मौक़ी भी मिल जाती है। जर्मन लेखक फ़िख का तो यहाँ तक कहना है कि “प्राचीन भारत के सामाजिक जीवन का जो भी विवरण कभी भविष्य में प्रस्तुत किया जाएगा उसे इन जातकों की कथाओं पर किसी न किसी प्रकार अवश्य आश्रित रहना पड़ेगा। इस कारण उसके अनु-सार, “इनके विषय में यह कथन भी यथार्थ ही है कि जातक-साहित्य, भारतीय पुरातत्व के सार्वजनिक एवं व्यक्तिगत अर्थात् इन दोनों प्रकार के ही प्रसंगों के लिए एक विशाल कोश का भी काम देने में समर्थ है।”

1. Richard Fick : Social Organisation etc. P. VIII
(Author's Preface)

थेरी गाथाओं में भिक्षुणी-जीवन की भाँकी

बौद्ध धर्म की एक बहुत बड़ी विशेषता यह रही कि उसने, पुरुष एवं नारी दोनों के ही लिए जीवनादर्श उपलब्ध करने का लगभग एक समान अवसर प्रदान किया और उन दोनों ने ही वहाँ इसके द्वारा एक समान लाभ उठाने का प्रयत्न भी किया। कहते हैं कि भगवान बुद्ध को पहले ऐसा करना स्वीकार नहीं था और न वे नारियों को अपने संघ में सम्मिलित करना चाहते थे। परंतु जब उनके शिष्य आनंद ने स्वयं उन्हीं की विमाता महाप्रजापति गौतमी के लिए उनसे आग्रह किया तो उनका ध्यान इस प्रश्न की ओर एक बार फिर से आकुल हो गया और उन्होंने स्त्रियों के लिए भी किसी एक पृथक् संघ की व्यवस्था कर दी। इस बात का एक बहुत बड़ा प्रभाव यह पड़ा कि न केवल इसके द्वारा उस समय बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार हुआ, अपितु उसके उच्च व्यापक आदर्शों से प्रेरणा ग्रहण कर भारतीय नारी समाज के प्रायः प्रत्येक वर्ग के व्यक्तियों ने अपने जीवन में सुधार कर लिये। इनमें एक और जहाँ कोशल एवं भगवत् के राजवंशों की कुमारियाँ थीं वहाँ दूसरी ओर सामंतों की कन्याएँ भी थीं। इसी प्रकार इनमें से अनेक जहाँ ब्राह्मण कुल में उत्पन्न थीं, वहाँ दूसरी श्रेणी वगैरह वर्ग से सम्बंध रखती थीं। यहाँ तक कि जिस प्रकार इनमें शुभा जैसी एक बहई की पुत्री को ग्यान मिला था और चापा जैसा एक बहेलिए की लड़की सम्मिलित थी उसी प्रकार यहाँ पर एक अम्बाली जैसी गणिका को भी प्रतिष्ठित हो जाने का एक समान अवसर उपलब्ध था। जिन स्त्रियों के जीवन में इस प्रकार कायापलट हुआ और जिन्होंने अपने जीवन की विषमताओं पर पूर्ण विजय प्राप्त कर एक आदर्श जीवन के आनंद का अनुभव किया उन्हीं में से कुछ की निजी अनुभूतियों वाले सुंदर उद्गार थेरी गाथाओं में सुरक्षित हैं जो रोचक एवं उपदेशप्रद भी हैं।

पटाचारा आवस्ती के एक सेठ की पुत्री है जो अपने किसी नौकर के ही प्रेम ■ पँस जाती है और वह उसके साथ भाग भी निकलती है। किंतु उसे कहीं शांति नहीं मिलती और वह अनेक विपत्तियों के कमेले में पड़ जाती है। उसका न केवल पति मर जाता है, प्रत्युत उसके एक नन्हें से बच्चे को भी कोई बाज उठा ले जाता है और दूसरा पानी में डूब जाता है। इसी प्रकार उसके माता-पिता एवं भाई के भी एक ही साथ घर की छत गिर जाने से, मरने का समाचार उसे मिलता ■ जिस कारण वह पगली सी हो उठती है। परंतु भगवान बुद्ध के भिक्कू आ जाने पर वह फिर साधनाओं में लग जाती है। अपनी गाथाओं में वह बतलाती है—“एक दिन मैंने पैर धोने के अनंतर पँके हुए पानी को ऊँची जगह से नीचे की ओर जाते देखा और तब से अपने चित्त को भ्रष्ट जाति के घोड़े को सवारी में शिक्षित करने के समान, समाधि में लगाने का अभ्यास किया। फिर मैं दीपक लेकर बिहार के कोठे के भीतर गई, वहाँ प्रकाश में चारपाई पर बैठ गई और सामने को दीपशिखा पर ध्यान करने लगी। फिर ■ सुई लेकर दीपक की बत्ती को जैसे ही नीचा करने के उद्देश्य से तेल में डुबोने लगी कि अचानक दीपक बुझ गया। इस प्रकार दीपक का निर्वाण करना था कि उसके साथ ही मेरे चित्त का भी निर्वाण हो गया और तुम्हा की लौ सदा के लिए बुझ गई। पटाचारा पीछे एक अत्यंत उच्च कोटि की भिक्षुणी बन जाती है और उसके उपदेशों द्वारा अन्य अनेक स्त्रियों को भी जीवन में शांति मिलती है। वह अपने विषय में स्वयं कहती है “मैं शील ■ संपन्न हूँ अपने शास्ता अर्थात् भगवान बुद्ध के शासन के अनुसार चलने वाली हूँ अप्रमादिनी हूँ, अचंचल हूँ और विनीत भी हूँ।”

इसी प्रकार आवस्ती की ही एक अन्य देरी कथा गोवमी भी

अपने अनुभवों को गाकर बतलाती हुई दीख पड़ती है। गोतमी किसी निर्धन परिवार की लड़की है और वह दुबली पतली भी है जिस कारण उसे अपने पति के घर में कोई आदर नहीं मिलता। फिर उसे एक पुत्र उत्पन्न होता है और उसे लोग कुछ न कुछ अपनाने से लगते हैं, वैसे उसका वह बालक भी मर जाता है और वह उन्मादिनी भी बनकर अपने मृत शिशु को गोद में ले घर-घर जा बकबकती फिरती है। ऐसी ही दशा में उसकी भेंट भगवान् बुद्ध से हो जाती है जिसके यह कहने पर कि तुम किसी ऐसे घर से सरसों ला दो जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो, वह सब कहीं पूछताछ करने निकलती है और अंत में, सर्वत्र असफल रहकर उनके कथन का रहस्य समझ लेती है। इस प्रकार यह बौद्ध भिक्षुणी बन जाती है और अपने विषय में गा उठती — “सत्संग से मनुष्य को दुःख का शान होता है दुःख के समुदय का, उसके निरोध का और उसकी निवृत्ति को ओर ले जाने वाले आर्य आध्यात्मिक मार्ग का भी ज्ञान हो जाता है। प्रसव के लिए मैं अपने घर की ओर चली जा रही थी कि मार्ग में मैंने अपने मृत पति को देखा और असमर्थ हो गई। माग्यहीना नारी, तुने असंख्य जन्मों में इसी प्रकार अपरिमित दुःख का अनुभव किया है और अपार आँसुओं को बहाया है। हाय ! तेरा सभी कुछ लुट गया, खवने तुम्हें छोड़ दिया और अपना पति तक तुम्हें छोड़ चलता बना। अहो, आश्चर्य ! इस अवस्था में भी मैं मृत्यु से परे हूँ और मैंने अमृत पा लिया है जो निर्वाण के रूप में है। मैं आज वेदना से मुक्त हूँ, सभी शोक्तों की मैंने आज उतार फेंका है, मेरे सभी कर्तव्य पूरे हो गए हैं और सारे बंधनों से मुझे मुक्ति मिल चुकी है।”^१ कृपा गोतमी ऐसा गायती हुई आत्म-विमोह हो जाती है और उसका सारा का सारा नैराश्य अधूर्व आशावादिता में परिवर्तित हो जाता है।

वास्तव में थेरी गाथाओं के अंतर्गत बौद्ध भिक्षुणियों के एक से एक विचित्र अनुभव प्रकट किये गए दोख पढ़ते हैं। दंतिका नाम की भिक्षुणी भी आवस्ती नगरी की एक कन्या है जिसका जन्म वहाँ के राजपुरोहित ब्राह्मण के घर में हुआ है। उसने महाप्रजापति गोतमी के उपदेश से प्रव्रज्या ग्रहण की है। दंतिका का कथन है एक दिन मैं बिहार के बाहर निकल कर शृङ्गकूट पर्वत पर चली गई और वहाँ जाकर उसके शिखर पर बैठ गई। क्या देखती हूँ कि कोई हाथी जल में अवगाहन करके नदी के किनारे आकर बैठ गया है एक अंकुशधारी मनुष्य उसके निकट पहुँचकर उसे आदेश देता है "पैर पसार" और वह अपने पैर फैला देता है जिसके आधार पर वह पुरुष उसके ऊपर चढ़ जाता है। इस प्रकार ■■■ दुर्दाँव हाथी को दमित होते एवं मनुष्य की अधीनता स्वीकार करते देख मैंने भी उस गंभीर स्वरण में प्रवेश किया और अपने चित्त को दमित और वशीभूत कर लिया।^{११} फिर एक अज्ञातनामा भिक्षुणी जिसका जन्म-स्थान वैशाली है अपने पति से प्रव्रज्या के लिए आज्ञा नहीं प्राप्त कर पाती और वह इसी कारण गृहस्थ धर्म का पालन करती हुई रसोई बनाया करती है। एक दिन ■■■ वह शाक पकाती रहती ■■■ वह कढ़ाई में ■■■ जाता है जिस घटना के कारण उसे पूर्ण वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और वह अपने पति को प्रभावित कर भिक्षुणी बन जाती है ■■■ अपने एक गीत में गाकर कहती हैं—“वत्से, अब तुम्हें सुख की नींद सो। अपने हाथ से बनाये हुए चीवर को ओढ़कर परम शांति ■■■ कर। अब कढ़ाई में पड़े हुए शुष्क शाक की भाँति तेरा भी राग समूह दग्ध होकर शांत हो गया।”^{१२}

मुक्ता कोसल जनपद के एक द्रविड़ ब्राह्मण की कन्या है जिसका विवाह भी किसी द्रविड़ कुल के से ही हुआ है। वह अपने पति से

कहती है कि मेरा यहस्थाभम में रहना संभव नहीं और उसकी आशा से वह प्रवज्या ग्रहण कर लेती है। वह आत्मसंयम का अभ्यास करती है और ■■■ दिनों के अनंतर सिद्धि लाभ कर उल्लास पूर्वक आनंद के गीत गाने लग जाती है। उसका कहना है "मैं मुमुक्त हो गई, भलीभांति विमुक्त हो गई और तीन देही वस्तुओं से अन्धा छुटकारा पा चुकी, ओसली से, मूसल से और अपने कुबड़े स्वामी से अन्धी विमुक्त हो गई। परंतु इससे भी एक और महान कोटि की मुक्ति मिल गई। मैं आज जरा एवं मरण से ही मुक्त हो गई, मेरी मक्के की हो कट गई।—^{११} इसी प्रकार सुर्मंगल माता नाम की एक अन्य भिक्षुणी भी अपने यहस्थाभम के धंसे से मुक्ति पा कर अपने को धन्य समझती है। यह भी एक दरिद्र परिवार की ही स्त्री है और इसे भी पहले पारिवारिक जीवन के ही कष्टों का अनुभव करना पड़ता है। अंत में प्रवज्या ग्रहण ■■■ यह गा उठती है "अहो मैं मुक्त नारी, मेरी मुक्ति कितनी धन्य है। पहले मैं मूसल लेकर धान कूटा करती थी, आज उससे मुक्त हो गई। मेरे स्वामी के पास उनके बन्धने हुए छातों की बंडियों की जैसी क्षीणता थी उससे भी क्षीण मेरी देह थी, अब उस जीवन की आसक्तियों को और मलों को मैंने छोड़ दिया और मैं आज बृक्ष मूलों में ध्यान करती हुई जीवन-यापन कर रही हूँ। अहो! मैं कितनी सुखी हूँ और कितने सुख से ध्यान करती हूँ।"^{१२}

परंतु इन सभी से विलक्षण और उत्कृष्ट गाथा भिक्षुणी शुभा की कही जा सकती है जो राजगृह के एक प्रतिष्ठित ब्राह्मण कुल की कन्या थी और जो भगवान् बुद्ध के आने पर उनके उपदेशों से प्रभावित हो उपासिका बन गई थी। शुभा परम सुंदरी थी और उसके शरीरावयवों के सुजील एवं मनोहर होने के ही कारण उसका

“शुभा” नाम भी पड़ा था। एक दिन जब वह अपने स्थानाभ्यास के लिए जीवक के आश्रमवन में जा रही थी कि मार्ग में उसे एक चरित्र-भ्रष्ट युवक मिल गया। शुभा के सौंदर्य से उसकी ओर आकृष्ट हो जाने के कारण वह उसे नाना प्रकार के प्रलोभनों द्वारा लुभाने लग गया। उसने जितना ही उसे, अपने भिक्षुणी-भाव का स्मरण दिलाकर, दुष्टता से विरत करना चाह उतना ही वह और भी प्रयत्न करने लगा। श्रंत में जब वह युवक शुभा की आँखों के अनुपम सौंदर्य की प्रशंसा करने लगा तो उस भिक्षुणी से नहीं रहा गया। उसने, बिना किसी भी प्रकार का मनोविकार प्रदर्शित किये, अपनी आँखें निकाल डाली और उस युवक के हाथों में देते हुए कहा “यह लो, यह आँख ही सारे अनर्थों की जड़ है”। परंतु वह देखते ही युवक कंपति हो उठा। वह शुभा के चरणों में गिर पड़ा और इससे बार-बार क्षमा-याचना करने लग गया। कहते हैं कि शुभा वहाँ से सौट कर फिर भगवान् बुद्ध के पास आयी, जहाँ उसकी पवित्रता और निर्मलता और भी स्फुरित हो उठी और इसे पहली ज्योति भी मिल गई।

शुभा की गाथाएँ ३६६ से आरंभ होकर ३६६ तक चलती हैं और इनमें उसका युवक के साथ हुआ संलाप भी आ जाता है। उस संलप द्वारा अपना मार्ग रोके जाने पर शुभा कहती है “भाई मैंने तेरा क्या अपराध किया है जो तू मुझे रास्ते ■ रोक रहा है ? क्या तुझे पता नहीं कि विरक्त भिक्षुणियों को स्पर्श करना पुण्यों के लिए अनुचित है ?” युवक इसके उत्तर में कहता है—“तू तर्कही है, निष्पाप ■। प्रवज्या तेरे लिए क्या करेगी। इस काषाय वज्र को दूर फेंक। चल इस पुण्डित वन में हम दोनों रम्य करें” और ऐसा कहता हुआ वह उस वन के सौंदर्य का वर्णन करने लग जाता है। वह कहता है—“पुष्प-रेणुओं से मस्त बने दृढ़ चारों ओर मधुर गंध विकीर्ण कर रहे हैं। यह प्रथम वर्षा का सुखकारी ■

है, चल इस पुष्पित वन में हम दोनों रमण करें। पुष्पों को सिर पर धारण किये ये वृक्ष वायु से प्रकंपित होकर कैसी सुंदर मर्मर ध्वनि कर रहे हैं। बता इस वन में अकेली घूमती हुई तू क्या कभी तृप्ति लाभ कर सकेगी ?” और फिर वह उसी वन की भयानकता का भी स्मरण दिला कर उसे प्रभावित करना चाहता है और कहता है—“हिंस्र जंतुओं से भरे हुए, मस्त हाथियों से रौंदे हुए इस निर्जन भयानक विशाल वन में बता बिना किसी सहायक के तू अकेली कैसे जा सकेगी ?”

फिर युवक शुभा को सोने की पुचली के समान भी बतलाता है उसे नंदन वन की अप्सरा कहता है और यह भी कह उठता है—“अनुपमे, तू काशी के सुंदर सुस्म रेशमी वस्त्रों से सुशोभित होने योग्य है” और इस प्रकार कथन करता हुआ वह उसके समक्ष अपनी अभिलाषा प्रकट करता है और कहता है—“इस वन भूमि में मैं तेरा दास होकर तेरी सेवा करूँगा, यदि तू इसके भीतर चलकर मेरे साथ रमण करे। हे किन्नरी के से मंद लोचनों वाली, पृथ्वी में तेरे समान मुझे और कोई प्रिय नहीं है। यदि तू मेरी बात को स्वीकार करे तो चल हम दोनों यहवास स्वीकार करें। सुंदर प्रसाद में तू सुख पूर्वक रहेगी, जहाँ अनेक दासियाँ तेरी सेवा करेंगी। वह इसके लिए आभूषणादि की व्यवस्था का प्रलोभन देता है तथा, अंत में यह भी कह डालता है—“अन्यथा हे ब्रह्मचारिणि, सरोवर के उस कमल के समान जिसका अब तक किसी ने सेवन नहीं किया, तू भी अपने विशुद्ध और अब तक किसी के द्वारा न छुये हुए शरीर ■ वार्धक्य को प्राप्त करेगी” और इस प्रकार कथन कर वह शुभा को अंत में पछताने से बचाने का भी प्रलोभन उपस्थित करता है। परंतु शुभा उसकी इन बातों के किंचित्मात्र भी विचलित नहीं होती और उससे पूछ बैठती है कि जिस शरीर पर वह इसना मुग्ध है वह तो वस्तुतः मांस्थादि गंदगियों से भरी हुई केवल एक नारी-

मात्र है “इसमें क्या है जिस पर मुग्ध हो कर के ऐसा कह रहा है ?”

वह युवक इस प्रश्न के उत्तर में शुभा के सुंदर नेत्रों का वर्णन करने लगता है और कहता है—“सुंदरी, हिरणी के नेत्रों के समान अथवा पर्वत पृष्ठ पर बैठी हुई किन्नरी के नेत्रों के समान तेरे दोनों सुंदर नेत्र हैं। ये तेरे दोनों नेत्र ही मेरी काम-वासना की वृद्धि कर रहे हैं। इन्हें देख कर ही मैं तुम पर आसक्त हुआ हूँ। कमल-कोश को भी मात करने वाले तेरे स्वर्ण सदृश स्वच्छ मुख-मंडल में स्थित इन दोनों नेत्रों को देखकर मेरी काम-वासना बहुत बढ़ रही है। प्रियदर्शिनि, तेरी दोनों माँहें कितनी विस्तीर्ण हैं तेरे नेत्र कितने सादक हैं। हे किन्नरी जैसे मंद लोचनों वाली, तू दूर खड़ी है फिर भी तेरे दोनों सुंदर नेत्रों के समान प्रिय वस्तु मेरे लिए संसार में और कोई नहीं है।” जिस पर शुभा उसकी मार्चना करने लगती है। वह कहती है—“बुद्ध जहाँ जाने का मार्ग तक नहीं है वहाँ तू जाना चाहता है मानों चंद्रमा को खिलौना बनाने के लिए तू उसे खोजने निकला है। मूढ़, तू सुमेर को ही लौधना चाहता है, जब कि तू ■ की पुत्री के पीछे इस प्रकार लगता है, क्या तू नहीं जानता कि आर्य अष्टांगिक मार्ग का अनुसरण करने वाली ■ बुद्ध की शिष्या हूँ। मैंने वासना के तीर निकाल फेंका है वेदनाओं और चिन्त, मलों से रहित होकर मैं सने स्थानों में जाकर ध्यान करती हूँ, इसी में मेरा आनंद है।”

फिर शुभा उसे बतलाती है—“एक समय मैंने देखा था, सुंदर नई लकड़ी से बनी हुई सुचित्रित कठपुतली खूंदी और ताँत से बँधी हुई, नाना प्रकार के नाच और भाव-भंगी दिखा रही थी। खूंदी और ताँत के हटा लेने पर कठपुतली छिन्न-भिन्न होकर गिर पड़ी और उसके टुकड़े-टुकड़े हो गए, तो बता इस मग्नावशेष पुतली का कौन सा अंग तेरे मन को मोहित करता है। यही हाल मनुष्य की देह का है उसके विविध अवयव और क्रियाएँ धर्मों वा अवस्थाओं के आधार

पर चल रही हैं। यदि ये अवस्थाएँ उत्पन्न हों तो उसके अवयव भी छिन्न-भिन्न हो जायें। इन छिन्न-भिन्न अवयवों में बता कौन सा अवयव तेरे मन को आसक्त करता है। यह शरीर तो भीत पर बने हरताल से रंगे हुए चित्र के समान है। तू उसे वास्तविक समझे बैठा है। मूर्ख, यह तेरी मिथ्या, विपरीत दृष्टि है। स्वप्न में कल्प-वृक्ष को देखकर तू अंधा हो उसके पीछे दौड़ रहा है। आदमियों की भीड़ में जादूगर के द्वारा दिखाये हुए जादू को देख कर तू उसके पीछे दौड़ रहा है। आँखें क्या हैं? दो गड़्ढों में स्थित अशुश्रुओं से शिथिल सरल बुद्धिमान, इन गुणों का मिश्रित पिंडी चक्षु कहलाता है इससे अधिक वह कुछ नहीं है”, और ऐसा कहते हुए शुभा ने, अत्यंत निर्विकार चित्त के साथ उसी क्षण अपनी आँख फाड़ कर उस मनुष्य को देते हुए कहा—“यह मेरी आँख है ले।”

शुभा के ऐसा करते ही युवक की काम-पिपासा उसी क्षण शांत हो गई और वह उससे बार-बार क्षमा-याचना करने लग गया। उसने उससे बड़े कातर भाव कहा “ब्रह्मचारिणि, तेरा मंगल हो। मैं फिर इस प्रकार का अपकर्म कभी नहीं करूँगा। हाथ में प्रवृत्त अग्नि को आलिंगन करने चला था, विषाक्त सर्प को स्पर्श करने चला था, देख, तू स्वास्थ्य लाभ कर। मुझे क्षमा कर, तेरा मंगल हो” और इस प्रकार कहते-कहते वह स्तब्ध सा बन गया। तत्पश्चात् भिक्षुणी शुभा उससे अपने को मुक्त पाकर भगवान् सम्यक संबुद्ध के पास चली गई जहाँ उस महापुरुष के सामने आते ही उसकी आँखें भी पूर्ववत् स्वस्थ हो गईं।^१

इस प्रकार भिक्षुणियों में से बहुत सी यदि अपने शिशुओं वा स्वजनों की मृत्यु के कारण विरक्त बन जाती हैं तो कुछ ऐसी भी हैं जो अपने घर के काम काज अथवा कुछ दोषों से ही ऊबकर प्रव्रज्या

ग्रहण कर लेती है। इनमें अनेक ऐसी भी हैं जिन पर शास्ता अर्थात् भगवान् के महान् व्यक्तित्व का अपूर्व प्रभाव पड़ता है और वे उस ओर आकृष्ट हो सभी कुछ का त्याग कर बैठती हैं। एक ओर जहाँ उन्हें घोर विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, किन्तु वे विचलित होकर भी संभल जाती हैं, वहाँ दूसरी ओर उन्हें विभिन्न दैनिक प्रपंचों से ही मुक्ति मिल जाती है और वे पूर्ण शांति का श्वास लेने लगती हैं। वे किसी भी दशा में हतोत्साह नहीं होतीं, प्रत्युत प्रवज्या ग्रहण करते ही किसी ऐसे आनंद का अनुभव करने लगती हैं जो वस्तुतः स्वर्गीय कहा जा सकता है। उनका रमणी-हृदय स्वभावतः अत्यंत भावुक है जिस कारण उनकी आत्मा-मिथ्यक्तियों में हमें कभी-कभी आवेश की भी गंध दीख पड़ती है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि उनके जीवन में जो अभूतपूर्व कायापलट आ जाता है उसके कारण उनका पड़ला व्यक्तित्व रह नहीं जाता। अंबपाली अपनी युवावस्था में परम सुंदरी रहा करती है और एक समय उसे विवाह की अभिलाषा रखने वाले अनेक राजकुमार परस्पर स्पर्धा करते हुए दीख पड़ते हैं। वही अंबपाली जब उपदेश ग्रहण कर प्रवज्या में चली जाती है और युवावस्था में शरीर के परिवर्तनों पर विचार करने लगती है तो उससे कहे बिना नहीं रहा जाता। वह अपने शरीर के प्रायः प्रत्येक अवयव के पूर्व सौंदर्य का स्मरण कर उसका वर्णन करती है उसकी तुलना अपने वर्तमान समय के खर्जित अंगों के साथ करती है और प्रत्येक बार कह उठती है, “सत्यवादी (बुद्ध) के वचन कभी मिथ्या नहीं होते। काले भौरे के रंग के समान तथा धूपराले अग्रभाग वाले कभी उसके ■■■ वे जो जीर्ण सन के समान हैं, पुष्पाभरणों से गुंथा हुआ उसका केशपाश या जो कभी हज़ारों चमेली के पुष्प की सी गंध बहान करता था और वह आज खरदे के रेश्मों की जैसी दुर्गंध दे रहा है। इसी प्रकार उसकी दोनों भौंहें, उसके दोनों नेत्र उसकी नासिका, उसके कान,

उसकी दंत-पंक्ति और उसकी ग्रीवा ■ में घोर परिवर्तन आ गया है तथा वनचारिणी कोकिला की मधुर कूक के समान जो किसी समय उसकी प्यारी मीठी बोली थी वह आज जराबस्था के कारण स्थलित और भराई हुई सी बन गई ■ जिन बातों से भी वचन की सत्यता ही सिद्ध होती है ।^१ अंधपाली की गाथाओं वाले इन शब्दों में एक वास्तविक जीवन का परिचय है और एक यथार्थवादिता है जो सच-सुच निराली है ।

आधस्ती की पूर्णिका तो पहले एक साधारण पनिहारिन रह चुकी है, किन्तु जब वह भिक्षुणी बन जाती है तो अपने ही पूर्व प्राप्त अनुभवों के दृष्टांत दे देकर वह किसी कर्मकांडी ब्राह्मण की मनोवृत्ति में निराला परिवर्तन ला देती है । उसका कहना है—“मैं पनिहारिन थी, सदा पानी भरना ही मेरा काम था । स्वाभिनिधों के दंड के भय से, उनके क्रोध भरे कुवाच्यों से पीड़ित मुझे कहीं सड़ों में भी पानी में उतरना पड़ता था । ब्राह्मण, तु किस के भय से भयभीत होकर इस कहीं सड़ों में गहरी नदी में उतर रहा है और निरंतर सड़ों की कठिन पीड़ा सहता है ?” और जब इसके उत्तर में वह ब्राह्मण इसे अपने स्नान-कर्म के पापों से मुक्त करने वाला पुण्य-कार्य ठहराने का प्रयत्न करने लगता है तो यह उसे अनेक दृष्टांत देकर कोरी स्नान-शुद्धि की व्यर्थता सिद्ध करती है और उसे अंत में निरुत्तर कर देती है । हव प्रकार वह भी बौद्ध धर्म एवं संघ की शरण में आ सच्चा “स्नातक” बन जाता है ।^२ पूर्णिका के कथन में सर्वत्र एक भोलापन है, सहज-भूति है और विशुद्ध कल्याण-भावना है जो अन्यत्र दुर्लभ है ।

ये ऐसी गाथाएँ प्रसिद्ध त्रिपिटक साहित्य में से ‘सुत्तपिटक’ वाले पाँच निकायों के अंतिम ‘खुदक निकाय’ के नवें ग्रन्थ के रूप में आती हैं । इनके ठीक पहले का आठवाँ ग्रन्थ ‘धेर गाथा’ नाम से प्रसिद्ध

है। उसमें लगभग ऐसे ही २५५ भिन्नजीवनों के उद्गार संग्रहित हैं। उनमें जो कथन आते हैं उनके अंतर्गत भी हमें अनेक विचित्र अनुभवों के वर्णन मिलते हैं और इनके साथ ही उनके प्राकृतिक दृश्यों के विवरण भी बहुत स्पष्ट हैं, किन्तु वे उद्गार अधिकतर भिन्नजीवनों की ध्यान-साधना के प्रसंग में आये हैं। जहाँ थेरी गाथा के उद्गार वास्तव में वास्तविक जीवन की अभिव्यक्ति हैं। इन दोनों प्रकार की गाथाओं में एक समानता इस बात की दीख पड़ती है कि इसमें मानव-जीवन के प्रपंचों की ओर से विरक्ति प्रदर्शित की गई है। परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि उनका पर्यवसान किसी प्रकार के भी नैराश्य में होना है। ये गाथाएँ वस्तुतः मानव-जीवन की कटुताओं तथा विषमताओं के भंभीर अनुभव के उपरांत उपलब्ध उन पर विजय के उत्साह-पूर्ण वक्तव्य हैं और इसी कारण ये संगीतात्मक भी हैं। इनमें भिन्नजीवनों और भिन्नजीवियों के अनुभव वही सूक्ष्मता के साथ प्रकट किये गए हैं जिस समय वे अपने पूर्व जीवन की बातों के साथ अपने नवीन भिन्नजीवन की तुलना करने लगते हैं, उस समय उनके प्रत्येक शब्द से उनके हृदय की सच्चाई का परिचय मिलता है। थेरी गाथा के प्रकृति-वर्णन की भी यह एक विशेषता है कि वह संचपुच वस्तुनिष्ठ और यथार्थ प्रतीत होता है। इसमें उद्दीपन के निमित्त किये गए उद्योगों का अभाव है।

इन थेरी गाथाओं तथा थेरी गयाओं से ही मिलते-जुलते कुछ वर्णन अपदान "सं० अक्षदान" साहित्य में भी पाया जाता है वहाँ पर भी भिन्नजीवनों और भिन्नजीवियों के ही कृत्यों का वर्णन पाया जाता है। किन्तु ऐसे कृत्य प्रधानतः उनके पूर्व जन्मों से सम्बंध रखते हैं। ये उस वर्ग की गाथाएँ हैं जिन्हें साधारणतया "आतक" का नाम दिया जाता है और जिनमें अतीत जन्म की कथाओं का उल्लेख कर वर्तमान जीवन की ओर भी संकेत रहता है। फिर भी ये "अपदान"

न तो घेर गयाओं तथा घेरी गाथाओं के समान तथ्यपूर्ण एवं रोचक जान पड़ते हैं, न ये उतने सरस एवं भावपूर्ण हो लगते हैं। इस दृष्टि से हम भगवान गौतम बुद्ध सम्बंधी जातक साहित्य को कहीं अधिक महत्वपूर्ण कह सकते हैं। जातकों के अंतर्गत भगवान बुद्ध की वे कथाएँ संगृहीत हैं जो उनके पूर्वकालीन बोधिसत्व जीवन की विविध अवस्थाओं एवं कृत्यों का वर्णन करते हैं। बोधिसत्व की दशा में भगवान अपने बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील दीख पड़ते हैं। ये उस समय विविध प्रकार की स्थितियों में रहकर सत्य, शान, दया, शील, आदि परमिताओं का सम्यक् अभ्यास करते हुए पाये जाते हैं और अपनी परीक्षा में उत्तीर्ण होते हैं। इन जातकों का एक बहुत बड़ा महत्व इस बात में भी दीख पड़ता है कि इनके आधार पर हम यदि चाहें तो उनके रचना-काल की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि का एक सुंदर परिचय भी उपलब्ध कर सकते हैं। ये बातें उपर्युक्त गाथाओं के आधार पर भी हमें प्राप्त हो सकती हैं, किन्तु उनमें बहुत व्यक्तिगत अनुभव की भी गंध मिलती है जिसका यहाँ कोई प्रसंग भी नहीं। "जातक" की कथाएँ प्रत्यक्षतः स्वयं भगवान बुद्ध द्वारा ही कथित हैं, किन्तु इन पर अधिकतर चमत्कार भी रंग चढ़ा हुआ मिलता है। इन जातक कथाओं के अनेक प्रसंग हमें पौराणिक से भी लगते हैं जहाँ उपर्युक्त गाथाओं सच्चे हृदय की आत्म-कथाएँ दी गई जान पड़ती हैं।

थेर गाथाओं में भिक्षुओं के जीवन-गीत

थेरी गाथाओं में जिस प्रकार बौद्ध भिक्षुणियों के अनुभव जन्म मार्मिक स्वर सुन पड़ते हैं उसी प्रकार थेर गाथाओं के अंतर्गत भी हमें बौद्ध भिक्षुओं के उन गीतों की ध्वनि सुनाई देती है जिन्हें उन्होंने अपनी अंतर्वृत्तियों की साधना के फलस्वरूप शान्त और सजग बनकर गाये हैं। इन गायकों का हमें कोई ऐतिहासिक परिचय उपलब्ध नहीं, न इनमें से सभी किसी के जीवन-वृत्तों की ओर किये गए काल्पनिक संकेत ही मिल पाते हैं। इनके विषय में भी हमें लगभग उसी प्रकार अंधरे पते से काम चलाना पड़ता है जिस प्रकार भिक्षुणियों के सम्बंध में और उसी प्रकार हमें, केवल धूमिल रूप-रेखा के आधार पर, यहाँ भी संगति गिठाने का संतोष करना पड़ता है। भिक्षुओं की अधिकांश गाथाएँ छोटी-छोटी और उपदेश-मूलक हैं और इनमें, स्वभावतः उनके व्यक्तिगत अनुभवों के प्रासंगिक उल्लेखों की भी कमी दीखती है। किंतु उनकी जगह यहाँ पर कमी-कमी प्राकृतिक दृश्यों के ऐसे मनोरम चित्रण मिल जाते हैं जो, साधारणतः, केवल सिद्धहस्त कवियों की रचनाओं में ही उपलब्ध हैं। फिर भी हमें इसके द्वारा उन गायकों के किसी वातावरण का स्पष्ट ज्ञान नहीं हो पाता, न यही विदित हो पाता है कि इनमें कौन कहाँ का निवासी रहा होगा। इससे बस इतना ही अनुमान किया जा सकता है कि ऐसी गाथा के रचयिता का हृदय सांसारिक बंधनों से सर्वथा मुक्त होकर सुंदर प्राकृतिक दृश्यों में अभिकाधिक रमने लग गया होगा अथवा अपनी आध्यात्मिक साधना की प्रक्रिया में उसे इनसे अनुकूल स्फूर्ति वा प्रेरणा मिलती रही होगी। दोनों प्रकार की गाथाओं के गाने वाले, चाहे वे भिक्षु रहे हों वा भिक्षुणी हों, अथवा उनकी परिस्थितियों में न्यूनाधिक अंतर भी रहा हो वे सभी ठीक एक ही प्रकार के आदर्श जीवन को महत्व देते हैं, एक

ही प्रकार के आनंदोल्लास का अनुभव करते हैं और प्रायः एक ही ढंग से उसे अभिव्यक्त करना भी चाहते हैं। वे एक ही प्रकार की स्थिति तक पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं और उसका मूल कारण भी वे या तो भगवान् बुद्ध के संपर्क अथवा उनके उपदेश को स्वीकार करते हैं। अतएव इन गाथाओं के उन्मुक्त हृदयों के स्वाभाविक उद्गार होते हुए भी, इनमें सर्वत्र वे ही स्वर मिलेंगे जो प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों में उपलब्ध हैं वही विशिष्ट रंग मिलेगा जो बौद्धों के धार्मिक जीवन की अपनी चीज़ है और वही वर्णन-शैली भी मिलेगी जिसका प्रयोग बौद्ध साहित्य के अंतर्गत बराबर दीख पड़ती आई है।

बौद्ध भिक्षु एवं भिक्षुणियों का जीवनादर्श विशुद्ध प्रवृत्त्या परक है और वे दोनों ही पूर्ण आन्तरिक शांति को सर्वाधिक महत्व देना चाहते हैं। उन्हें किसी प्रकार के भी सांसारिक बंधनों के प्रति कुछ भी आकर्षण नहीं, न वे उनके कारण निर्मित हो जाने वाले विविध प्रपंचों में, कभी फँसना चाहते हैं। उन्हें गार्हस्थ्य जीवन के धंधों के प्रति पूरी उपेक्षा है और इनसे अपने को बचाकर वनवासी बन जाने पर वे विजयोत्साह प्रदर्शित करते हैं। बौद्ध भिक्षु दो नारी जाति से भी वृथा करता दीख पड़ता है और वह, कदाचित्, अधिकतर इसी कारण, शारीरिक सौंदर्य की घोर निंदा करता भी पाया जाता है। उसकी दृष्टि में नारियाँ मनुष्य को सन्मार्ग से विचलित करने के साधन जैसी हैं और वे ही, वस्तुतः, सारे दुःखों की जड़ है। इसलिए, ये गाथाओं वाले कई भिक्षुओं द्वारा हम इस प्रकार गर्वोक्ति करते हुए भी पाते हैं कि, किन-किन युक्तियों का आश्रय ग्रहण कर वे उनके जाल से सफलता पूर्वक निकल भागने में समर्थ हुए। इनमें से भिक्षु बड्ढ की गाथा कदाचित् अपवाद स्वरूप है जहाँ उसने कहा है—“अच्छा हुआ कि मेरी माता ने (मेरे उपदेश रूपी छड़ी का प्रयोग किया। माता के ही वचन को सुनकर मैं शिक्षित हुआ। मैं (अब) पराक्रमी हूँ निर्वाण में रत हूँ, उत्तम संबोधि को प्राप्त

हूँ अर्हत् हूँ, दक्षिणार्ह हूँ, त्रैविद्य हूँ और अमृतदर्शी हूँ।”^१ परंतु यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि भिक्षु बद्ध की इस गाथा का कुछ अंश येरी गाथाओं की कतिपय रचनाओं (सं० २०४—२१२) से भी मिलता-जुलता जान पड़ता है और, जैसा डा० विंटरनिट्स का कहना है, “यह स्पष्ट है कि इन दोनों की गाथाएँ किसी एक ही काव्य के अंग रह चुकी होंगी।”^२

भिक्षु रत्नपाल कुरुदेश के किसी सुल्लकोद्धित गांव के एक बहुत बड़े घनी सेठ के पुत्र है, सुख विलास में पले हुए हैं और उनका विवाह भी उचित समय में हो चुका है। कुरुदेश में भ्रमण करते समय उस गांव में पहुँचे हुए भगवान् बुद्ध के उपदेशों द्वारा प्रकाशित हो वे किसी प्रकार अपने माता-पिता की अनुमति प्राप्त कर प्रव्रजित होते हैं और फिर अर्हत् पद पा लेने के उपरांत वे एक बार भ्रमण करते हुए अपने गांव में जाते हैं, जहाँ उनके घर की स्त्रियाँ उन्हें प्रलोभित करने की चेष्टा करती हैं। उसकी प्रक्रिया में वे उनका उत्तर देते हुए गा उठते हैं—“इस चित्रित शरीर को देखो जो ब्रह्मों से युक्त है, फूला है, पीकित है, अनेक संकल्पों से युक्त है और जिसकी ध्रुव स्थिति नहीं है। मणि और कुंडल से सज्जित इस रूप को देखो। चमड़े से ढकी हुई हड्डी बस्त्रों के साथ शोभती है। पाद लाख से सजे हैं और मुँह पर चूर्ण लगा है। यह मूर्ख को मोहने के लिए पर्याप्त है, किन्तु पार (निर्वाण) गवेषक के लिए नहीं। गुंथे बाल हैं और अञ्जन लगे नेत्र हैं। यह मूर्ख को मोहने के लिए पर्याप्त है, पार गवेषक को नहीं। इत्यादि।”^३

१. येर गाथा (सं० १३५-१३६)।

२. Maurice Winternitz: ‘History of Indian Literature’ Vol. II p. 104 (Notes)

३. येर गाथा (सं० ७६८-७७१)।

आनंद भिक्षु की गाथा से भी प्रकट होता है कि वहाँ पर भी यही विचार, ठीक इन्हीं शब्दों द्वारा, व्यक्त किया गया है, किन्तु वहाँ यह उस भिक्षु का उपदेश बनकर आया है।^१ इसी प्रकार प्रसिद्ध स्वविर मोगलाल के नाम से उपलब्ध गाथाओं में भी अन्यत्र इसी बात को किसी वेश्या के प्रति इन शब्दों में कहलाया गया है—“अरिष-पंजर की बनी कुटी में रहने वाली, नसों से सिये हुए मांसवाली और गंदगी से भरी तुझे विषकार है। तू दूसरे के शरीर की इच्छा करती है। तू स्वचा से मढ़ी हुई गूथ की पैली है, छाती पर गंबयुक्त पिशाचिनी है; तेरे शरीर में नौ छोट हैं जो कि नित्य बहते रहते हैं। नौ सांतों से युक्त तेरा शरीर दुर्गंध युक्त है और बंधन ढालने वाला है। तुझे भिक्षु वैसा ही त्याग देता है जैसा कि स्वच्छता की कामना करने वाला गूथ को।^२ और फिर इसके कुछ आगे उपर्युक्त “इस चित्रित शरीर को देखो” आदि कल्पित पंक्तियाँ भी आ जाती हैं।

वास्तव में भौतिक शरीर की ठीक दशा और विशेषकर उसके दयनीय घृणित रूप का पता हमें एकाध अन्य गाथाओं द्वारा भी चलता है। उदाहरण के लिए भिक्षु कण्व वाली गाथाओं से प्रकट होता है कि उसने, भगवान् बुद्ध द्वारा मानवीय शरीर की गंदगी के विषय में उपदेश ग्रहण कर, और अर्हत् का पद प्राप्त कर फिर उसी को, अपने शब्दों में दूसरों के प्रति इस प्रकार दोहराया है—“यह शरीर अनेक मलों से परिपूर्ण है, बड़े गूथ-रूप में जन्मा है, सड़े पानी का गड्ढा जैसा है, बड़ा फोड़ा है, बड़ी चोट है। यह शरीर पीन और खून से भरा है, गलता हुआ गूथ-रूप है; बहते हुए इस शरीर से सदा गंदगी निकलती है। यह गंदा शरीर साठ कंदरों से जुड़ा है, मांस

१. येरगाथा सं० १०१६-१०२२।

२. वही, सं० ११५३-११५५।

रूपी लेप से लेपित है, चर्म रूपी कंचुक पहने है और निरर्थक है। इसी के दाँचे से यह घटित है, नस रूपी सूत्रों से बँधा है और अनेक अंगों के मिलने से यह चालू रहता है।.....जो इस शरीर को वैसा ही छोड़ता है जैसा कि गूथ लित सर्प को, वह भव के मूल का वमन कर, आश्रय रहित हो परिनिर्वाण को प्राप्त होता है।^१ भिक्षु कण्ठ मगध के किसी सामंत का पुत्र था और अपने पिता की मृत्यु हो जाने पर, उसकी गद्दी पर बैठते ही विलासी बन गया था। भगवान बुद्ध ने उसकी विलासिता को दूर कर उसके भीतर पूर्ण विरक्ति का भाव भरने के उद्देश्य से इस प्रकार के उपदेश दिये थे जो वैसे अर्थशरीरों के लिए बहुत उपयुक्त थे। किन्तु भिक्षु कण्ठ तथा बहुत से भिक्षुओं ने भी इस प्रकार के उद्गारों द्वारा कभी-कभी साधारण स्थितियों में भी पूरी सहायता ली तथा सांसारिक जीवन मात्र के प्रति जुगुप्सा के के भाव का प्रचार किया। प्रवृत्ति ग्रहण करने के पूर्व प्रत्येक साधक के लिए यह आवश्यक था कि वह न केवल दृश्य जगत् की क्षण-मंगुरता और इसकी दुःखमयता पर सिद्धांत रूप से ही विचार कर ले, अपितु यह अपनी आँखों देख और समझ भी ले कि जिन वस्तुओं को हम पूर्ण महत्व देते हैं उनका रूप तत्त्वतः कितना वृथित एवं सर्वथा हेय है।

येर गाथाओं से पता चलता है कि बौद्ध भिक्षु केवल सांसारिक जीवन एवं मानवीय शरीरादि से विरक्त भाव ही नहीं प्रकट करते। वे इन बातों का परित्याग कर जंगलों और गिरि-कंदराओं में जा निवास करना तथा अपनी आध्यात्मिक साधनाओं में सदा निरत रहना भी पसंद करते हैं। वे इसी कारण वन के प्राकृतिक दृश्यों की बार-बार प्रशंसा करते हैं और बहुधा यह भी बतलाते रहते हैं कि किस प्रकार वहाँ रहकर वे अपने जीवन व्यतीत किया करते हैं।

मिच्छु संकिच्छ का जन्म किसी ब्राह्मण कुल में हुआ था और प्रवर्जित होकर उन्होंने अर्हत् पद को भी प्राप्त किया था। उनकी सेवा में निरत उपासक ने जब उनसे अनुरोध किया कि आप कृपा पूर्वक अमुक गाँव के निकट रहें और वन प्रदेशों में उत्पन्न होने वाले भन्का-वातादि से अपनी रक्षा करें तो, इसके उत्तर में, वे कहने लगे — “जब कभी वर्षा ऋतु में भन्कावात भेषों को उड़ा ले जाता है, तब मेरे मन के भीतर निष्कामता युक्त विचार उठने लग जाते हैं। अन्ते से उत्पन्न और श्मशान में घर बनाकर रहने वाले कौवे ने मुझमें शरीर सम्बंधी वैराग्य युक्त स्मृति उत्पन्न कर दी है।.....जहाँ स्वच्छ जल है, नंदे शिलापट्ट हैं, लंगूर और मृग हैं और जहाँ शैवाल से आच्छादित जलाशय हैं ऐसे पर्वत मुझे प्रिय हैं। अरण्यों में, कंदराओं में, गुफाओं में और जंगली जानवरों से सेवित निवास-स्थानों में मैंने वास किया।.....मैं न तो मृत्यु का अभिनंदन करता हूँ, न जीवन का ही अभिनंदन करता हूँ। मुक्त मृत्यु की भाँति मैं अपने ■■■ की प्रतीक्षा में हूँ। ज्ञान पूर्वक स्मृतिमान् हो मैं अपने समय की प्रतीक्षा करता हूँ।” और इस प्रकार बतला कर वे उसे निरुत्तर सा कर देते हैं।

इसी प्रकार, मगध देशीय किसी महातिथ गाँव के एक वैभव-शाली ब्राह्मण कुल में उत्पन्न, मिच्छु महाकत्सप ने भी अपने पर्वत-वास के विषय में कहा है। इनका पूर्व नाम पिप्पली माणवक ■■■ और इनमें वैराग्य की प्रवृत्ति अपने लङ्ककपन से ही थी जिस कारण इन्होंने अपने माता-पिता से कह रखा था कि जब तक आप लोग जीवित रहेंगे, ■■■ आपकी सेवानुश्रुधा, अविवाहित रह कर ही कर दूँगा और आप लोगों का वेहावसान हो जाने पर, प्रवज्या ग्रहण कर लूँगा। परंतु इनकी माता को यह बात पसंद न थी, इसलिए, इनकी

और से अनेक युक्तियों के होते रहने पर भी, उसने इनका वैवाहिक सम्बंध अनुष्ठित करा दिया। फिर भी इनकी स्त्री भद्रा कपिलानी तथा ये स्वयं-दोनों ही-ब्रह्मचर्य का ही पालन करते रह गए और माता-पिता का देहांत होते ही, दोनों ने प्रव्रज्या भी ग्रहण कर ली। पिप्पली माणवक ने, प्रव्रज्या से केवल आठ दिनों के ही उपरांत, अर्हत् पद की प्राप्ति करली और पीछे भगवान् बुद्ध के धृतांगव्रती शिष्यों में सर्वश्रेष्ठ भी गिने जाने लगे। भिक्षु महाकस्सप ने समय-समय पर अन्य बौद्ध भिक्षुओं को अनेक उपदेश दिये थे और ऐसे ही अवसरों पर प्रसंगवश उन्होंने इस विषय में भी इस प्रकार बतलाया था—“जिस पर्वत पर चढ़ने से कुछ लोग परेशान हो जाते हैं वहाँ बुद्ध का उत्तराधिकारी, शानी, स्मृतिमान् एवं श्रद्धाबल से युक्त कस्सप चढ़ जाता है। कस्सप भिक्षु से लौट कर पर्वत पर चढ़ कर, आसक्ति रहित हो, मय-मीति रहित हो ध्यान करता है। जहाँ करेरि पुष्पो की मालाएँ बिछी हुई हों ऐसे मनोरम भूखंड हैं जो हाथियों के चिंघाड़ से रम्य है, ऐसे पर्वत मुझे प्रिय हैं। जहाँ नील बादलों की तरह सुंदर, शीतल और स्वच्छ जलाशय हैं जो, इंद्रगोपों से आच्छादित हैं, ऐसे पर्वत मुझे प्रिय हैं। नील बादलों की चोटियों के समान उत्तम महलों के शिखरों के समान और हाथियों के चिंघाड़ से रम्य जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं। वर्षा के पानी से प्रकुक्षित, रम्य श्रुषियों से सेवित और मोरों के नाद से प्रतिध्वनित जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं। उन्मा पुष्प के समान रंगवाले, भद्रालों से आच्छादित [] के समान और नाना पक्षियों के समूह से आकीर्ण जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं। गृहस्थों से अनाकीर्ण, मृग-समूह से सेवित और नाना पक्षि-समूह से आकीर्ण जो पर्वत हैं वे मुझे प्रिय हैं।”

और, अंत में, वे कहते हैं—“पाँच अंगों से युक्त तूर्य से मुझे वैसा आनंद नहीं मिलता जैसा एकाग्र चित्त हो सम्यक् रूप से धर्म के दर्शन करने में।”

परंतु, वास्तव में, इस तथ्य की भी कभी उपेक्षा नहीं की जा सकती कि कोरा वातावरण का परिवर्तन मात्र ही किसी के लिए पूर्ण शांति का विधायक नहीं बना करता। भीतर भी शांति कायम रहने पर ही वास्तविक आनंद का अनुभव होता है जिस दशा की उपलब्धि हो जाने पर फिर किसी प्रकार की आहरी बाधाएँ प्रभावित नहीं कर पाती। जब तक अपने चित्त में शांति नहीं तब तक प्रवृत्ता ग्रहण मात्र से ही कोई साधक अपने को सफल नहीं मानता। भिक्षु सम्पलदास राजा शुद्धोदन के राज पुरोहित के पुत्र थे और वे भगवान् बुद्ध के पास प्रव्रजित भी हुए थे, किन्तु मन में निरंतर काम वितर्क होते रहने के कारण, लाख प्रयत्न करने पर भी, उनके चित्त को शांति नहीं मिलती थी। इसलिए अपने जीवन से उदास होकर उन्होंने एक दिन आत्महत्या तक की तैयारी करली और, फिर, किसी प्रकार समाविष्ट होने पर ही उन्हें अर्हत् पद मिल सका। वे स्वयं कहते हैं—“मुझे प्रव्रजित हुए पचास वर्ष हुए, किन्तु अंगुली बजाने भर समय के लिए भी मुझे शांति नहीं मिली। चित्त की एकाग्रता को न पा, काम राग से पीड़ित हो, बाँह पकड़ कर रोता हुआ मैं विहार से निकल गया। (आत्महत्या के लिए) शस्त्र लाऊँगा, मेरे जीने से लाभ ही क्या है? मुझ जैसा व्यक्ति नियमों को त्याग कर कैसे भर सकता है? तब मैं उस्तरा लेकर पलंग पर बैठ गया। अपनी घमनी काटने के लिए गले पर उस्तरा रखा ही था तब तक मुझे विवेक पूर्ण विचार हो आया, शरीर के बुध्दरिश्माम प्रकट हुए और निर्वेद उत्पन्न हुआ। तब मेरा चित्त मुक्त हुआ। धर्म की महिमा को देखो।

मैंने तीन विद्याओं को प्राप्त किया और बुद्ध शासन को पूरा किया ।^{११} और, इस प्रकार बतला कर वे पूर्ण संतोष का अनुभव करते हैं तथा अपने जीवन को सफल समझ पाते हैं ।

इसीलिए भिक्षु तालपुट ने बराबर अपने चित्त की शांति की ओर ही सबसे अधिक ध्यान दिया है और प्रव्रज्या के पूर्व तथा उसके अनंतर भी उन्होंने सदा अपना यही अभीष्ट रखा है कि किस प्रकार उसका नियंत्रण कर आदर्श जीवन-यापन करें । तालपुट राजगृह में उत्पन्न हुए थे और, नाट्यकला में निपुण पाँच सौ नर्तकियों के साथ सारे देश में भ्रमण कर, नाटकों का अभिनय करने में सर्वत्र ख्याति भी प्राप्त कर चुके थे । अंत में भगवान् बुद्ध के पास प्रवर्जित होकर इन्होंने अर्हत् पद की उपलब्धि की तथा अपने ढंग के एक प्रसिद्ध भिक्षु के रूप में गिने जाने लगे । भिक्षु तालपुट ने अपनी प्रव्रज्या के पूर्व जो मनोदमन वा मनोनिर्ग्रहण के लिए उद्योग किये ■ उसका वर्णन, उनके द्वारा गाथाओं में प्रकट की गई उत्कट अभिलाषा के रूप में, मिलता है । उन्होंने अधिकतर इस प्रकार कहा है—“मैं कब पर्वत गुफाओं में अकेला, बिना किसी दूसरे के बिहस्त्रंगा और सारे भव को अनित्य के रूप में देखूँगा । मेरी यह अभिलाषा कब पूरी होगी ! मैं कब पैवंद लगा कीवर धारण कर, काषाय वस्त्रधारी मुनि हो, अहंकार रहित हो, तृष्णा रहित हो, राग-द्वेष तथा मोह का नाश कर सुख पूर्वक धन में बिहस्त्रंगा^{१२} परंतु जब इन्होंने प्रव्रज्या ग्रहण कर ली है और उस दशा में भी इनके चित्त की पूर्ण शांति नहीं मिल सकी है तो ये सीधे मन का ही संबोधित करके कहने लगे हैं—“चित्त, बहुत वर्षों तक नियम पूर्वक तुम कहते थे कि “यह गृहवास पर्याप्त है” । ■ मेरे प्रवर्जित हो जाने पर तुम

१. येर गाथा सं० ४०५-४१० ।

२. यही सं० १०३४-१०३७ ।

किस लिए (अमण धर्म में) नहीं लगते? चित्त, विनय पूर्वक तुम मुझे कहते ■ ये कि पर्वत गुफा में ध्यान करने वाले को मेघ-नार्जन से प्रसन्न सुंदर पंख वाले पक्षी अपने गीतों से प्रसुदित करेंगे? मैं परिवार, मित्र, प्रिय, बंधु, क्रीडा, रति और सांसारिक काम गुण, इन सबको त्याग कर इसमें आ गया। फिर भी चित्त, तुम मुझसे प्रसन्न नहीं हो ॥ चित्त, मेरे ही हो, दूसरे के नहीं। संग्राम के ■ रोने से क्या लाभ? यह सब नाशवान देखकर मैं अमृतपद की गवेषणा में निकला। मोर और कौंच पक्षी के गीतों से प्रतिध्वनित कानन में, चीतों और बाघों के साथ रहते हुए शरीर की अपेक्षा छोड़ दो और अपने अवसर को न खोओ—इस प्रकार चित्त, तुम पहले मुझसे आग्रह किया करते थे। मुंडा हो, विरूप हो, अभिशाप में आकर कपाल जैसे पात्र को हाथ में लेकर कुलों में भिक्षा करो और महर्षि शास्ता के वचन का अनुसरण करो—इस प्रकार, चित्त तुम पहले मुझसे आग्रह किया करते थे। अरण्य में, भिक्षा से जिणे, श्मशान में ध्यान किये, चिथड़ों का बना पीवर पहने, बिना छेदे आराम किये और सदा शुद्धि में रत रहे—इस प्रकार, चित्त, तुम पहले मुझसे आग्रह करते थे जैसा कि फल की इच्छा रखने वाला मनुष्य पेड़ को लगा कर फिर उसी को जड़ से काटे, चित्त, जो तुम अनित्य और नाशवान संसार में मुझे लगाना चाहते हो सो तुम वैसा ही कर रहे हो। रूप रहित, दूरगामी, एक चारी (चित्त) अब मैं तुम्हारी बात नहीं करूँगा। काम दुःखदाई है, कटुक है और बहुल भयानक है। मैं निर्वाण की ओर ही चलूँगा। मैं न तो विपत्ति के कारण, न मर्जाक के लिए, न विनोद के लिए, न भय से और न जीविका के लिए ही (घर से) निकला हूँ। चित्त, मैंने (अपने वश में) रहने की प्रतीक्षा तुमसे की है। मैं उगल गया हूँ, जो उगला है मैं उसे निगल नहीं सकता, चित्त, सर्वत्र अनेक जन्मों में मैंने तुम्हारे वचन का पालन किया था, मैंने तुम्हें अप्रसन्न नहीं

किया। इस आत्मीयता का, तुम्हारी कृतज्ञता का यही परिणाम हुआ कि मैं चिरकाल तक दुःख सहता रहा। चित्त, तुम बारंबार मेरे साथ विश्वासघात न कर रहे हो। तुम बारंबार नाटक कर रहे हो। पागल की तरह मुझे प्रलोभन दे रहे हो। चित्त, बताओ तो मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है? चित्त, यह जन्म तुम्हारे लिए पहले जैसा नहीं है। मैं लौटकर तुम्हारे वश में रहने योग्य नहीं हूँ। मैं महर्षि के शासन में प्रवर्जित हुआ हूँ। मेरे जैसे लोग विनाश को स्वीकार नहीं करेंगे। मैं अपने उद्देश्य पर दृढ़ हूँ, चित्त, तुम मेरा क्या कर लोगे? चित्त, मैं तुम्हारे वश में रहने योग्य नहीं हूँ। दोनों ओर से खुली हुई और गंदगी से भरी हुई इस धैली की कौन छूवे? गहने वाले नौ स्रोत वाले इस शरीर को धिक्कार है। चार अंगुल तृण पर पानी बरसने पर, पर्वत के बीच वृक्ष की तरह, मेव जैसे प्रफुल्लित कानन में निश्चित है। बैठंगा और उस समय (तृण का आसन) रुई की भौंति मुलायम जान पड़ेगा। मैं तुम्हें बल पूर्वक आलंबन (समाधि के विषय) मैं वैसा ही बाँध खालूंगा जैसा कि हाथी को मजबूत रस्ते से खंभे में। तुम मेरी स्मृति द्वारा सुरक्षित और सुभावित (अम्यस्त) हो सभी भावों में अनासक्त होगे।^{११}

भिक्षु सारिपुत्त ने एक आदर्श भिक्षु के लक्षण बतलाये हैं और यह भी कहा है कि उसे किस प्रकार अपना दैनिक जीवन व्यतीत करना चाहिए। ये स्वयं भगवान् बुद्ध के दो प्रधान शिष्यों में से एक थे जिनमें से दूसरे अर्थात् मोग्गलान की चर्चा इसके पूर्व की जा चुकी है। सारिपुत्त का जन्म उपतिस्स गाँव के एक ब्राह्मण कुल में और मोग्गलान का भी जन्म, उसी प्रकार किसी कोलित गाँव के एक

१. घेर गाथा सं० ११११-१११४, १११७, ११२२, ११२४-११२७, ११३०, ११३३, ११३६, ११३८, ११४१, ११४५ और ११४८।

ब्राह्मण कुल में हुआ था और ये दोनों ही, अपने बचपन से, परस्पर मैत्री-भाव रखते थे। एक दिन दोनों मित्र जब कमी राजगृह में कोई उत्सव देखने गए तो वहीं दोनों को बिरकि उत्पन्न हो गई और ये दोनों ही संजय परित्राजक के शिष्य बन गए। परंतु जब संजय के उपदेशों द्वारा इन्हें पूर्ण संतोष नहीं हुआ तो उनसे विदा लेकर ये दोनों फिर सत्य की खोज में निकल पड़े। इसी बीच इनकी कहीं, भिक्षु अस्सजी से, मेट हो गई जो भगवान् के प्रथम पाँच शिष्यों में से थे और जिन्होंने इन्हें उनके उपदेशों का परिचय करा दिया। अंत में फिर ये दोनों ही भगवान् बुद्ध के पास पहुँचे और इन्होंने उनसे प्रवर्णा प्रश्न कर अर्हत् पद को प्राप्त किया तथा दोनों ही एक साथ प्रसिद्ध हुए। भिक्षु सारिपुत्त को धर्म सेनापति भी कहा जाता था। भिक्षु सारिपुत्र के अनुसार—जो शीलवान् है, शांत है, स्मृतिमान् है, शुद्ध विचार वाला है, अप्रमादी है, अभ्यात्म चिंतन में रत है, समाहितात्म है, अकेला है और संतोषी है—वही 'भिक्षु' कहलाता है।^१ और, ऐसे भिक्षुओं के लिए कर्त्तव्य निर्धारण करते समय भी, उन्होंने कहा है—“गोला या सूखा भोजन लेते समय पेट भर न ले। हल्का पेट हो, भोजन में उचित मात्रा हो और स्मृतिमान् होकर भिक्षु के निचरण करे। चार पाँच प्राप्ति के लिए स्थान रहने पर पानी पी ले। निर्वाण प्राप्ति में रत भिक्षु के सुख विहार के लिए यह पर्याप्त है। अनुकूल चीवर और सो भी पर रहने। निर्वाण प्राप्ति में रत भिक्षु के लिए यह पर्याप्त है। पालथी मारकर बैठने से घुटने वर्षा के पानी से न भिगे तो यह निर्वाण-प्राप्ति में रत भिक्षु के लिए पर्याप्त है। जिसने सुख को दुःख के रूप में और दुःख को तीर के रूप में देखा है, और उन दोनों के बीच कहीं स्थायी अस्तित्व को नहीं पाया है, उसे संसार में क्या कहीं आसक्ति हो सकती है !..... जो

प्रपंच को त्याग कर निष्प्रपंच में रत है, वही अनुत्तर योगक्षेम-रूपी निर्वाण को प्राप्त करता है।^{१२} और, इस प्रकार, इन्होंने भिज्जुओं के लिए जो भी बतलाया है उससे उनकी आभ्यन्तरिक शुद्धि को ही अधिक महत्व देना सिद्ध होता है।

भिज्जु उपसेन ने भी, जो भिज्जु सारिपुत्त के ही अनुज थे और जिन्होंने उनके ही अनुसरण में प्रवृत्ता ग्रहण की थी, लगभग उपर्युक्त बातों को ही दोहराया है। इनका कहना है—“ध्यान मन होने के लिए भिज्जु विविक्त, कम आवाज वाले, जंगली जानवरों से सेवित निवास स्थान का सेवन करे। कूड़े के ढेर से, श्मशान से और गलियों से चिपड़े लेकर और उनसे संघाटि (दोहरा चीवर) बनाकर रुद्ध चीवर धारण करे। भिज्जु बंद-द्वार हो अर्थात् इंद्रियों को संयमित करके, सुसंयत हो, नम्र भाव से एक तिरे से लेकर घर-घर भिक्षा के लिए विचरण करे। रुद्ध भोजन से संतोष कर ले और इसकी भी बहुत इच्छा न करे, जो रस के फेर में पड़ता है उसका मन ध्यान में नहीं रमता। मुनि अल्पेच्छुक हो, संतुष्ट हो, एकांतवासी हो, गृहस्थ और प्रव्रजित दोनों से अलग हो विहरे। जड़ और मूक जैसा है वैसा ही अपने को दर्शाये। पंडित संघ के बीच अधिक समय तक भाषण न करे।…… इस प्रकार विहरने वाले, शुद्धि की कामना करने वाले भिज्जु के सभी आसक्त क्षीण हो जाते हैं और वह शांति को प्राप्त होता है।”^{१३} जिससे भिज्जु सारिपुत्त के कथन की पूरी व्याख्या हो जाती है।

आभ्यन्तरिक शुद्धि हो जाने तथा चित्त शांति आ जाने पर किसी व्यक्ति में क्या से क्या परिवर्तन हो जाते हैं इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हमें अंगुलिमाल में दीख पड़ता है जो अपने प्रारंभिक जीवन में एक निर्दयी और आततायी व्यक्ति रह कर भी, पीछे प्रसिद्ध भिज्जु

बन गया। अंगुलिमाल के लिए कहा गया कि वह कोसल नरेश के भगव नामक पुरोहित का पुत्र था और उसका नाम अहिंसक रखा गया था। परंतु उसके जन्म-दिन से ही उसमें आततायी होने के पूर्व लक्षण दिखाई देते थे। शिष्य के लिए उसे तपश्शिक्षा भेजा गया जहाँ वह अपने आचार्य का प्रिय शिष्य बन गया और इस बात से जलने वाले उसके सहपाठी उसकी निंदा करने पर तुल गए। तदनुसार कई बार उन्होंने आचार्य से इसकी चुटियों के विषय में कहा-सुना और उन्हें इसके विरुद्ध उभाकने में वे सफल भी हो गए। परंतु अहिंसक बहुत बलिष्ठ दीक्ष पढ़ता था, इसलिए आचार्य ने इसे दंड देने अथवा मारने का एक विचित्र उपाय सोचा। उन्होंने अहिंसक को बुलाकर कहा अब तुम्हारी शिक्षा समाप्त है, इसलिए गुरु-दक्षिणा के रूप में मुझे तुम एक सहस्र अंगुलियाँ ला दो। आचार्य ने यह सोचा था कि एक सहस्र अंगुलियों को काटने के प्रयत्न में यह एक न एक आदमी से अवश्य मार खायेगा वा मारा जायेगा। अहिंसक ने अपने आचार्य की आज्ञा स्वीकार कर ली और कोसल के जालिन नामक जंगल में जाकर वह उधर के पर्यकों की अंगुलियाँ काटने का कार्य करने लग गया। इस कारण वह तब से अंगुलिमाल के नाम से प्रसिद्ध हो चला और उससे आतंकित होकर बहुत से लोग अपने गाँव छोड़ कर भागने लग गए तथा राजा को उसे पकड़ने के लिए अपने सिपाही भेजने पड़ गए।

अंगुलिमाल की माता को जब इन बातों का पता चला तो उसने अपने पुत्र की खोज करने के लिए अपने पति से कहा। परंतु उसके पति ने इधर कोई ध्यान नहीं दिया तो वह स्वयं उसकी खोज में निकल पड़ी और किसी न किसी प्रकार, उसके निकट तक पहुँच गई। अंगुलिमाल को तब तक एक ही अंगुलि की कमी रह गई थी। जिस कारण अपनी माँ को दूर से आती हुई देखकर उसने सोचा कि आज मैं अपनी माँ की ही अंगुलि से एक सहस्र की संख्या पूरी कर-

लूँगा। परंतु उसी समय संयोगवश ऊपर से भगवान् बुद्ध भी आ पहुँचे जिन्हें देखकर अंगुलिमाल के जो में आ गया कि क्यों न इस भ्रमण की ही अंगुलि काट लूँ। तदनुसार अब उन्हें पकड़ने के लिए वह आगे बढ़ा तो वे इसे, कितना भी प्रयत्न करने पर, अपने से दूर ही प्रतीत होने लगे। अतएव, अंगुलिमाल ने पुकार कर कहा भ्रमण ठहरो” जिसके उत्तर में भगवान् बुद्ध ने बतलाया “अंगुलिमाल, तो ठहरा हुआ हूँ, तुम ही चलते जा रहे हो।” इस पर अंगुलिमाल ने सोचा कि भ्रमण झूठ न बोलता होगा, इस कारण, इसके शब्दों ■■■ न कुछ रहस्य अवश्य होना चाहिए और उसे जानने की इच्छा से इसने उनसे उनके शब्दों का गूढ़ार्थ पूछा। भगवान् बुद्ध ने इसे अपने उपदेशों द्वारा उसका बोध कराया जिससे पूर्ण प्रभावित हो उसने प्रवर्णा ग्रहण करली और अर्हत् पद को प्राप्त कर पूरा भिक्षु बन गया। परंतु भिक्षु सँगते समय कुछ लोग उस पर पत्थर फेंक दिया कर देते थे जिससे आहत होकर उसने फिर एक बार भगवान् बुद्ध से इसका कारण पूछा और इसके उत्तर में उन्होंने बतलाया कि “अंगुलिमाल, तुम जन्म-जन्मांतर के दुःखों से मुक्त हो गए अब तुम्हें इतना ही सहना है, इसे सह लो।” थेर गाथा में इसी प्रसंग की बातें आती हैं— “भ्रमण, चलते हुए कहते हो कि ‘मैं ठहरा हूँ’ और ठहरे हुए मुझे कहते हो कि तुम चलते हो। भ्रमण, तुमसे यह बात पूछता हूँ कि तुम ठहरे कैसे हो और मैं ठहरा कैसे नहीं हूँ ?” “अंगुलिमाल, सभी प्राणियों के प्रति दण्ड-त्याग कर मैं सदा स्थिर हूँ। तुम प्राणियों के विषय में असंयत हो, इसलिए, मैं स्थिर हूँ और तुम अस्थिर हो।” आगे भिक्षु अंगुलिमाल स्वयं अपने विषय में कहते हैं— “नहर वाले पानी को ले जाते हैं, वायु बनाने वाले वायु को ठीक करते हैं, बढ़ई लकड़ी को ठीक करते हैं और पंडित जन

अपना दमन करते हैं, कुछ प्राणी दंड से, अंकुश से या चाबुक से दमित किये जाते हैं, लेकिन मैं बिना दंड के, बिना शस्त्र के अचल (धुब) द्वारा दांत हूँ। हिंसा करने वाले मेरा नाम पहले अहिंसक था; आज मेरा नाम सत्य सिद्ध हुआ है और अब मैं किसी की भी हिंसा नहीं करता। पहले मैं अंगुलिमाल (नामक) विख्यात चोर था महा प्रवाह में बहते जाते समय ■ बुद्ध की शरण में गया।...मैं पहले दोनों ओर ■ परिशुद्ध, उदिच्च ब्राह्मण जाति का था। आज मैं सुगत धर्मराज, शास्ता का पुत्र हूँ।^१

उदान वाले वचनों के प्रसंग

‘उदान’ शब्द साधारणतः पंच प्राणों में से एक के नाम का सूचक समझा जा सकता है जो मानव शरीर के अंतर्गत नीचे से ऊपर की ओर प्रवाहित होता है। इस कारण लक्षणा से हमें इसके द्वारा किसी ऐसे उद्गार का भी बोध हो सकता है जो, अक्सर पाकर किसी व्यक्ति के मुख से, आप से आप प्रकट हो। भावावेश में आये हुए संतों-महात्माओं के मुख से निकले सारगर्भित वाक्यों के लिए भी, इसी आधार पर, ‘उदान’ शब्द का प्रयोग किया जाता है। तदनुसार ‘बुद्ध निकाय’ के १५ ग्रन्थों में गिने गये ‘उदान’ से भी तात्पर्य वस्तुतः उन महत्व पूर्ण बुद्ध वाक्यों के एक संग्रह से ही है जिन्हें उन्होंने, समय-समय पर, अपने संघ में कहे थे। ये वचन देखने में बड़े नहीं हैं, किन्तु अपने भाव-गाम्भीर्य के कारण, बिना प्रासंगिक संकेतों के, सर्वसाधारण की समझ में नहीं आ पाते। ‘उदान’ वाले उपर्युक्त ग्रन्थ में, इसी कारण, उनमें से प्रत्येक के पहले कुछ न कुछ बातें, उसको प्रस्तावना के रूप में, दे दी गई हैं जिससे उसके वास्तविक भाव को समझने में सहायता मिलती है। ‘उदान’ के अंतर्गत आठ वर्ग (वर्ग) हैं जिनमें से, सातवें को छोड़कर, शेष में से प्रत्येक में दस ‘सुत्त’ हैं। प्रत्येक ‘सुत्त’ के अंत में फिर कोई एक ‘उदान’ वा वचन आया है। सातवें ‘वर्ग’ में सुत्तों की संख्या केवल नव ही दीख पड़ती है जिसका कोई प्रत्यक्ष कारण निहित नहीं। डा० विंटर-निट्स ने तो प्रत्येक ‘वर्ग’ के अंतर्गत दस सुत्तों का होना चलाया है।^१ ‘उदान’ के आठों वर्गों को क्रमशः बोधिवर्ग, मुचलिहवर्ग,

1. M. Winternitz : ‘A History of Indian Literature,’ Vol II p. 84.

नंदवर्ग, मेधियवर्ग, सोण रथविर का वर्ग, जात्यंधवर्ग, चूलवर्ग एवं पाटलिबर्ग कहा गया मिलता । और इन शीर्षकों में से प्रत्येक के नीचे उस वर्ग के वर्य विषय की ओर किया गया कुछ न कुछ संकेत भी पाया जाता है । उसके अनंतर "ऐसा मैंने सुना" कहकर 'सुत्त' प्रसंग का आरंभ किया जाता है ।

इस प्रकार प्रत्येक 'सुत्त' का प्रारंभिक प्रसंग किसी ऐसे व्यक्ति के कथन के रूप में आया है जो, विशिष्ट बुद्ध वचन को बतलाने के पहले, उसके उस अवसर का भी परिचय दे देना चाहता है जब वह सर्वप्रथम, प्रकट किया गया होगा जिससे, उसके पूरे वातावरण का पर्याप्त ज्ञान हो जाने पर, अभीष्ट रहस्य का स्पष्टीकरण हो सके । इन प्रायः सारे प्रसंगों के अंतर्गत भगवान् बुद्ध के जीवन की किसी न किसी ऐसी घटना की चर्चा आई है जिसके सम्बंध में उन्हें अपने शिष्यों अथवा कभी सर्वसाधारण के लिए भी कुछ उपदेश देने का अवसर मिला है तथा उनसे लाभ उठाकर ऐसे लोगों ने अपने जीवन में कायापलट तकला दिया है । अतएव, 'उदान' के अंतर्गत संगृहीत बुद्ध वचनों का बहुत बड़ा महत्व है और इनके द्वारा कभी-कभी बौद्ध धर्म एवं दर्शन की बहुत सी गुत्थियों के सुलझाने में भी काम लिया जाता है । परंतु, इसके साथ ही, इनका बहुत कुछ मूल्य उन प्रसंगों के भी कारण बढ़ जाता है जो उनके पहले दिये गये मिलते हैं । उनसे न केवल इस बात का ही पता चलता है कि भगवान् बुद्ध के जीवन में किस प्रकार की घटनाएँ प्रायः घटा करती थीं तथा उनका उपयोग भी वे किस प्रकार कर लिया करते थे, अपितु हमें उनसे उस युग के सामाजिक जीवन एवं व्यक्तिगत और नैतिक समस्याओं का भी कुछ न कुछ आभास मिल जाता है तथा हम भारतीय संस्कृति के तत्कालीन रूप का किंचित् परिचय भी पा लेते हैं । प्रत्येक 'सुत्त' के पहले लगे हुए वाक्य "ऐसा मैंने सुना" से यह अवश्य सूचित होता है कि जो व्यक्ति उसमें कथित प्रसंग को छेड़ने जा रहा है उसे उसका

व्यक्तिगत परिचय नहीं हो सकता और उसका ऐसा सारा कथन, सुना-सुनाया होने के कारण, पूर्णतः प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। हमें यह भी निश्चित है कि 'उदान' में संगृहीत वचनों को सर्वप्रथम, किसने और कब एकत्र किया था तथा स्वयं उसने ही उक्त प्रसंगों को उनके साथ जोड़ा भी था या नहीं। फिर भी इतना अनुमान कर लेने में कदाचित्, कोई भी हानि नहीं कि उन दोनों का सम्बंध सुदीर्घ परंपरा से स्वीकृत हो चुका होगा और इसी कारण उसे तथ्य मान लेना भी कभी निराधार नहीं कहला सकता।

जिस समय भगवान् बुद्ध आवस्ती में, अनाथपिण्डिक के जेतवन आश्रम में, निहार कर रहे थे उस समय की एक चर्चा 'नन्दवर्ग' के अंतर्गत, इस प्रकार, आती है—नंद भगवान् बुद्ध के मौतेरे माई थे और भिक्षुओं के साथ रहकर ब्रह्मचर्य व्रत की शिक्षा पा रहे थे। एक दिन उन्होंने अपने साथियों से कहा, "आबुध, मैंने मन से ब्रह्मचर्य व्रत का पालन कर रहा हूँ। मैं अपने ब्रह्मचर्य को निभा नहीं सकता; शिक्षा को छोड़ मैं गृहस्थ हो जाऊँगा।" जिस बात को किसी ने जाकर भगवान् बुद्ध से कह दिया। भगवान् बुद्ध ने इस बात को सुनकर अपने यहाँ नंद को बुलाया और उन्होंने इनसे पूछा, "क्या यह सच है कि तुमने कुछ भिक्षुओं से ऐसी बात कही है?" नंद ने उनसे इस बात को स्वीकार कर लिया और उनसे इसका कारण पूछने पर, जवाब दिया 'भन्ते, मेरे घर से निलकने के समय शाक्यानी जनपद-कल्याणी ने खुले हुए केशों से मेरी ओर देखकर कहा था, "प्रिय, जल्दी लौट आना।" भन्ते, उसी की याद में मैं ब्रह्मचर्य-पालन करने में असमर्थ हो रहा हूँ। मैं इस व्रत को नहीं निभा सकता। शिक्षा छोड़कर गृहस्थ बन जाने की मेरी इच्छा हो रही है।" जिसे सुनकर भगवान् बुद्ध ने, अपनी अलौकिक शक्ति से, उन्हें देवेंद्र शक्र की पाँच सौ सुंदरी अप्सराएँ दिखलायीं। उन्हें नंद के सामने प्रत्यक्ष कर मम-

बान् बुद्ध ने उनसे पूछा, “नंद, क्या समझते हो, शाक्यानी जनपद-
कल्याणी इनसे अधिक सुंदरी है?” जिसके उत्तर में इन्होंने अप्स-
राओं की तुलना में अपनी पत्नी को ‘नकटी और कनकटी तथा सखी
पचकी बंदरी’ तक कह डाला और जब इनसे यह भी कहा गया—
“नंद, विश्वास करो, इन पाँच सौ अप्सराओं को तुम्हें दिला देने
का मैं जामिनी होता हूँ। अभी तुम जी लगाकर ब्रह्मचर्य व्रत का
पालन करो।” तो इन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। जब इनके
साथी भिक्षुओं को इसका पता चला तो वे इनसे कहने लगे, “हाँ,
अच्छी मज़दूरी कर रहे हो। अच्छा दाम भर रहे हो—नंद अप्स-
राओं के कारण ब्रह्मचर्य की मज़दूरी दे रहा है, दाम भर रहा है।”
परंतु नंद ने अपने साथियों के इस तरह ताना मारने और चिढ़ाने
की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया और सच्ची लगन के साथ
तपश्चरण कर शीघ्र ही उसके फल का साक्षात्कार कर लिया, नंद ने
‘इस प्रकार’ उस अर्हत् पद को भी प्राप्त कर लिया जिसके लिए
भिक्षुओं को प्रव्रज्या ग्रहण करनी पड़ती है। तदनुसार ये फिर भग-
वान् बुद्ध के निकट पहुँचे और इन्होंने उनसे कहा, “मन्ते, उन
पाँच सौ अप्सराओं के दिलाने के लिए जो भगवान् जामिनी बने थे
उसे जाने दें; मुझे अब कोई आवश्यकता नहीं रह गई।” इस पर
भगवान् के मुख से उदान के ये शब्द निकल पड़े—“जो कीचड़ को
पार कर चुका, काम के कटों को तोड़ दिया, मोह का ज्ञय कर
चुका और सुख-दुख से से लित नहीं, वही सच्चा भिक्षु है।”

इसी प्रकार, आवस्ती के जेतवन आराम में ही, भगवान् बुद्ध के
रहते समय की एक अन्य घटना मेघियवर्ग के आठवें सुत्त में निम्न
रूप बतलायी गई मिलती है—उस समय लोग भगवान् का बड़ा

१. अनु० भिक्षु जगदीश कश्यपः उदान (भारतीय महाबोधि समा,
सारनाथ) पृ० २६-२७।

आदर सम्मान करते थे और चीवर, पिण्डपात, शयनासनादि उन्हें बराबर प्राप्त होते रहते थे। तदनुसार भिक्षु-सब का भी बड़ा सम्मान था। परंतु दूसरे मत के साधुओं को यह बात अच्छी नहीं लगती थी और वे ईर्ष्यावश बराबर जलते-झुनते थे। अतएव, एक दिन वे लोग किसी 'सुंदरी' नाम की परित्रांजिका के यहाँ गये और, उससे अपनी भलाई कराने का वचन लेकर, उसे जेतवन जाने के लिए राजी कर लिया। परंतु जब उसने अपने यहाँ से प्रस्थान कर दिया और वह मार्ग से जा रही थी कि इन लोगों ने उसे कहीं एकांत में जान से मार कर जेतवन के निकट किसी गढ़े में छिपा दिया और उसके कहीं न दीख पड़ने की सूचना कोसल के राजा प्रसेनजित् को दे दी। राजा के यह पूछने पर कि आप लोगों को उसके विषय में क्या संदेह है इन्होंने यह भी दिया कि वह जेतवन में कहीं हो सकता है। तत्पश्चात् राजा के अनुमति लेकर ये फिर जेतवन की ओर गये और वहाँ के गढ़े से सुंदरी पारित्राजिका के मृत शरीर को निकाल और उसे बाँस के ठडर पर सुलाकर, श्रावस्ती नगर की गलियों एवं चौराहों से होकर घूमने लगे जब ये किसी चौराहे तथा गली से होकर निकलते तो सभी को सुनाकर कहने लगते, "भाई, बौद्ध भिक्षुओं की करतूत को देखो; ये बड़े अनर्लब्ध हैं, दुःशील हैं, पापी हैं, झूठे हैं, व्यवहारी हैं, लोग इन्हें बड़ा धर्मात्मा 'संयमा' ब्रह्मचारी, सच्चे, शीलवान् और पुण्यवान् समझ बैठे हैं।..... व्यामचार करने के बाद स्त्री को जान से मार डालना, इन्हें उचित नहीं था।" लोग इन बातों को सुनकर, स्वभावतः, भिक्षुओं पर बिगड़ते और उन्हें देखते हा कड़े और असह्य शब्दों में उन्हें पुकारते आदि गालियाँ तक देन लग जाते। जिन भिक्षुओं को इन बातों का अनुभव हुआ उन्होंने इसकी सूचना जाकर भगवान् बुद्ध को दे दी और उन्हें इन्होंने इनका पूरा विवरण भी दे दिया। भगवान् बुद्ध ने इस पर कहा, "भिक्षुओं, यह बात बहुत दिनों नहीं रहेगी,

फेवल सप्ताह भर तक रह बंद हो जायगी, इसलिये जो गालियाँ दे उनसे केवल इतना ही कह दिया करो—“मूठ बोलने वाले नरक में पड़ते हैं और वे भी जो करके कहते हैं, ‘हमने नहीं किया’। मृत्यु के बाद परलोक में दोनों नीच काम करने वालों की गति एक समान हुआ करती है।” तदनुसार लोगों के मन में क्रमशः यह भावना जगने लगी “इन बौद्ध भिक्षुओं ने ऐसा नहीं किया होगा।” ये बराबर सौगंध खाया करते हैं।” जिस पर भिक्षुओं को महान् आश्चर्य हुआ। इसका हाल सुनकर भगवान् के मुख से ये शब्द निकले—“अविनीत पुरुष दूसरों के कहने से भड़क ही जाते हैं, जैसे संग्राम में पैठा हाथी वाण लगने पर। अतएव, भिक्षुओं को चाहिए कि कड़े वचन सुनकर अपने मन में किसी प्रकार का द्वेष-भाव न लायें और उन्हें सहज भाव से सह लिया करें।”

‘उदान’ का छठा वर्ग ‘जात्यंघ वर्ग’ कहलाता है क्योंकि उसके दशों सुत्तों में से सबसे महत्व पूर्ण चौथा ‘सुत्त’ जात्यंघ पुरुषों की ही एक कथा से सम्बंध रखता है। इस सुत्त में कहा गया है कि जिस समय भगवान् भावस्ती में अनायापिण्डिक के जेतवन आराम में विहार कर रहे थे उस समय उधर नाना मतवादों का बड़ा जोर था। उन दिनों के श्रमण, ब्राह्मण और परिवाजक भिक्षाटन के लिए भावस्ती में घूमा करते थे और, विभिन्न मिथ्यावादों के कारण, आपस में लड़ते-झगड़ते रहा करते थे। कुछ श्रमण और ब्राह्मण कहा करते थे—“लोक शाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत मूठ है” अन्य कहते थे—“लोक अशाश्वत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत मूठ है” फिर तीसरे कहते—“लोक सांत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत मूठ है” चौथे कहते थे—“लोक अनंत है, यही सत्य है, दूसरा नितांत मूठ है;” पाँचवें कहते थे—जो जीव है वही शरीर है, यही सत्य है, दूसरा

नितांत झूठ है” छठें कहते थे—“जीव दूसरा है और शरीर दूसरा” इत्यादि, सातवें कहते थे—“मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) बना रहता है” आठवें कहते थे—“मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) बना नहीं रहता,” और, इसी प्रकार यदि कोई और थे—“मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) रहता भी है नहीं भी तो दूसरे कह उठते थे—“मरने के अनंतर तथागत (आत्मा) न रहता है, न नहीं रहता है” और इन जैसे मतभेदों के कारण, वे आपस में कठोर वचनों का प्रयोग करते रहते थे। एक दिन संघ के कुछ भिक्षुओं ने जो भिक्षाटन के लिए आवस्ती में गये हुए थे, ऐसे ऋग्गों ■ अनर्थ का अनुभव किया और उन्होंने भगवान् ■ के यहाँ आकर इस बात की सूचना दी तथा, इस प्रकार, उनसे उन्होंने इसका मूल कारण जानने की भी इच्छा प्रकट की। भगवान् ■ ने उनके पूछने पर उत्तर दिया—“भिक्षुओं, ये साधु और परिश्रमक अंधे, बिना आँख वाले अर्थात्-नर्थ वा धर्माधर्म को कुछ भी नहीं जानते हैं। अर्थात्-नर्थ वा धर्माधर्म को न जानने के कारण ही मैं लड़ा करते हूँ। भिक्षुओं, आज से बहुत पहले इसी आवस्ती में एक राजा रहता था जिसने किसी पुरुष को आमंत्रित कर उससे कहा कि आवस्ती के सभी जात्यंधों को इकट्ठा करो। उस पुरुष ने जब राजा की इस आज्ञा का पालन कर दिया तो फिर उसे दूसरी आज्ञा हुई कि इन सभी जात्यंधों (जन्म से अंधों) को कोई हाथी दिखा लाया जाय इसके अनंतर यह भी किया गया और उन सभी में से किसी को हाथी का सिर, किसी को कान, किसी को दाँत, किसी को सूँड़, किसी को पैर, किसी को पूँछ, किसी को शरीर तथा किसी को पूँछ के ■ मात्र का स्पर्श कराकर फिर एक बार उस राजा के यहाँ उनके विषय सूचित किया गया। तब राजा स्वयं उठ कर उन जात्यंधों के पास गया और उनमें से प्रत्येक से प्रश्न करने लगा। उसने सभी से क्रमशः एक ही प्रश्न किया “सूरास क्या हाथी देख लिया ?” किन्तु उनमें से प्रत्येक ने अपने अपने अनुभव के

अनुसार उसे भिन्न-भिन्न उत्तर दिये। जिन जात्यंधों ने हाथी का गिर पकड़ा था उन्होंने कहा “देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई बड़ा पकड़ा हो।” जिन्होंने उसके कान पकड़े थे उन्होंने बतलाया “देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई सूँप” जिन्होंने उसके दाँव पकड़े थे उन्होंने कहा “देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई खँटा वा हल का फाल; जिन्होंने उसका सूँह पकड़ा था उन्होंने कहा “देव, हाथी ऐसा है—जैसे हल में जुका बाँस का ‘हरिस’ जिन्होंने उसके शरीर को पकड़ा था उन्होंने कहा—“देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई ‘कोछा’ वा धान की कोठी,” जिन्होंने उसके पैर पकड़े थे उन्होंने बतलाया “देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई ठूँठ पेड़,” जिन्होंने उसकी पूँछ पकड़ी थी उन्होंने कहा—“देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई साँटा” और जिन्होंने केवल उसका पूँछ के बालों को स्पर्श किया था उन्होंने उत्तर दिया, “देव, हाथी ऐसा है—जैसे कोई झाड़ू” और ऐसा कह कर वे एक दूसरे के विरोध में कट्टर शब्दों का व्यवहार करने लगे तथा परस्पर मार-पीट भी करने लग गए। भिक्षुओं, राजा उन जात्यंधों की इस मूर्खता को देखकर खूब हँसा और वहाँ बात इन भ्रमणा एवं ब्राह्मणों के “धर्म ऐसा है, वैसा नहीं” कहने तथा यह कहकर लड़ने के सम्बंध भी की जा सकती है।” भगवान् के मुख से फिर ये उदान के शब्द भी निकले—“कितने भ्रमण और ब्राह्मण इसी में जूझते रहते हैं और धर्म के केवल एक अंग को देखकर ही विवाद करते हैं।”

किस प्रकार भगवान् बुद्ध के प्रभाव में आकर न केवल व्यक्ति विशेष व, प्रसूत किंवा वन के सभी व्यक्तियों तक के आचरण एवं रहन-सहन में अंतर आ जाता था और वे अपने को सदा के लिए संभाल एवं सुधार लिया करते थे इसका एक उत्कृष्ट उदाहरण हमें वसुमुदा नदी के तीर पर निवास करने वाले भिक्षुओं की उस कथा

में मिलता है जो 'उदान' के तीसरे अथवा 'नंद वर्ग' के तीसरे सुक्त के आरंभ में, उसका प्रसंग बनकर, आती है। कहते हैं कि जिस समय भगवान् बुद्ध आवस्ती के अनाथपिण्डिक वाले जेतवन के आराम में विहार कर रहे थे, उस समय आयुष्मान् यशोज पाँच सौ भिक्षुओं के साथ वहाँ उनके दर्शनों के लिए आये और वहाँ पहुँच कर आगंतुक भिक्षु वहाँ के भिक्षुओं के साथ मिलते-जुलते, ठहरने का स्थान देखते तथा पात्र-चीवर सँभालते ऊँचे शब्द करने लग गए और वैसे शोरगुल की भनक के कान में पड़ते ही भगवान् ने आनंद को बुलाकर पूछा—“आनंद, यह शोरगुल कैसा—मानो बहुत मछली मार रहे हों ?” तब आनंद ने उन्हें बतलाया कि किस प्रकार आयुष्मान् यशोज के साथ पाँच सौ भिक्षु वहाँ भगवान् के दर्शनों के लिए आये हुए हैं और एक दूसरे से मिलते-जुलते, ठहरने का स्थान देखते तथा चीवर एवं पात्र को सँभालते समय ऊँचे शब्द कर रहे हैं। भगवान् ने यह सुनकर आनंद द्वारा उन भिक्षुओं को बुलावाया और जब उनसे पूछने पर फिर उसी प्रकार का उत्तर मिला तो उन्होंने उनसे कहा “जाओ भिक्षुओ, तुम्हें चले जाने को कहता हूँ। मेरे साथ तुम मत रहना।” इस पर वे सभी भिक्षु वहाँ से भगवान् को प्रणाम करके चले गए और बज्जी जनपद की ओर घूमते-फिरते क्रमशः वग्गुमुदा नदी के तट पर पहुँच गए। उन भिक्षुओं ने तब वहीं रहकर वर्षावास (चौमासा) किया और वहाँ यशोज ने उन्हें बर्खास्त किया कि भगवान् को संतुष्ट रखने के लिए हमें किस प्रकार संयत रूप में रहना चाहिए। भिक्षुओं ने, इस प्रकार, वहीं रहकर संयत जीवन का पूरा अभ्यास किया और वर्षावास (चौमासा) के ही भीतर तीनों विद्याओं का साक्षात्कार भी कर लिया। तत्पश्चात् जब आवस्ती में रहकर भगवान् वैशाली की ओर अग्रण करते हुए पहुँचे और वहाँ महावन की कूटागार शाला में विहार करने लगे तो उन्होंने वग्गुमुदा नदी के तीरे वाले उन भिक्षुओं को एक बार स्मरण किया और

आनंद से कहा कि किसी दूत को भेज कर उन्हें यहाँ मेरे पास बुला लो। तदनुसार एक भिक्षु उनके यहाँ भेजा गया और वे चले आये। परंतु जब वे आये तो भगवान् चौथे ध्यान में लीन थे, इस लिए उन्हें कोई वाधा न पहुँचाकर वे स्वयं भी वहीं ध्यान बैठ गए। जब रात का पहला याम बीत गया और भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं से कुछ भी बातचीत न की तो आनंद से उन्हें इनके आने की सूचना दी जिसके उत्तर में वे मौन रहे और, इसी प्रकार, बिचला याम निकल जाने पर भी हुआ। फिर जब तीसरा याम भी निकल गया और आनंद ने फिर भी एक बार भिक्षुओं के आने की उन्हें सूचना दी तो भगवान् ने कहा—“आनंद, यदि तुम जानते तो अभी भी कुछ नहीं कहते। आनंद, मैं और ये सभी पाँच सौ भिक्षु चौथे ध्यान में लीन होकर बैठे थे” और ऐसा करते ही उनके मुख से उदान के ये शब्द निकल पड़े—“जिसने कामरूपी कंटक, क्रोध और हिंसा, सभी को जीत लिया है, वह पर्वत के जैसा अचल रहा करता है और उस भिक्षु को कभी सुख वा दुःख नहीं बताया करते।”

‘उदान’ के सर्वाधिक मार्मिक प्रसंगों में हम उसके अष्टवें वग (पाटलि ग्रामवर्ग) के पाँचवें सुत्त की कथा की भणना कर सकते हैं जिसमें भगवान् बुद्ध के बुद्ध सुनार के यहाँ अंतिम भोजन करने की चर्चा की गई है और जो कई दृष्टियों से बहुत महत्व पूर्ण भी समझी जाती है। समय भगवान् बड़े मारी भिक्षु-संघ के सात मल्लों में भ्रमण करते हुए जहाँ ‘पावा’ ग्राम है वहाँ पहुँच गए और वहीं बुद्ध नामक सुनार के आश्रम में विहार करने लगे। बुद्ध ने जब उनका अपने आश्रम में ठहरना सुना तो वह उनके निकट पहुँचा और उपदेश पा लेने पर उनसे कहा “भन्ते, भगवान् भिक्षु-संघ के साथ कल मेरे

घर भोजन करना स्वीकार करें।” भगवान् की मौन स्वीकृति पा लेने पर फिर वह अपने घर गया और ‘सूकर मद्दव’ तथा ■■■ अनेक अच्छे भोजन तैयार कर, समय पर, भगवान् को उसने बुला भेजा। भगवान् जब वहाँ पहुँचे तो बिछे आसन पर बैठ गए और चुंद को बुलाकर कहा, “चुंद, जो तुमने ‘सूकर मद्दव’ तैयार किया है उसे मुझे ही परोस, भिक्षु-संघ को दूसरे भोजन दे” चुंद ने तब वैसा ही किया और, भगवान् के यह कहने पर कि ‘उस सूकर मद्दव को बुद्ध को छोड़कर दूसरा कोई नहीं पचा सकता, बचे अंश को फेंक आओ’, उसने फिर यह भी कर दिया। तत्पश्चात् भगवान् बुद्ध ने उसके यहाँ भोजन किया और उसे धर्मोपदेश करके वहाँ से चले गए। तब चुंद सोनार के भोजन को लाकर भगवान् को कड़ी बीमारी उठी, खून के दस्त आने लगे और प्राणों को हर लेने वाली भयंकर वेदना भी आरंभ हो गई। भगवान् उसे सहन करने लग गए और आनंद को बुलाकर उन्होंने कहा “आनंद, जहाँ कुक्षिनारा है, वहाँ ■■■ जाऊँगा” और जब वे उधर चले तो मार्ग में एक वृक्ष मूल के निकट जा कर बोले, “आनंद, यहाँ आओ, सघाटी को चपोत कर बिछाओ, बहुत थक गया हूँ, बैठूँगा।” फिर उन्होंने आनंद से, बिछे आसन पर बैठते ही, यह भी कहा “आनंद, जाओ, कहीं से पानी लाओ पीऊँगा, आनंद, पीऊँगा।”

भगवान् के ऐसा कहने पर आनंद ने उनसे निवेदन किया “भस्ते,

1. ‘सूकर मद्दव’ का अर्थ ‘महा मृदकया’ में सूअर का सटु मांस किया गया मिलता है जहाँ दूसरे लोग कहते हैं ■■■ वह वस्तुतः ‘सूअर द्वारा मर्दित वंसकलीर’ के लिए आया है। कुछ लोग, इसी प्रकार, उसे ‘सूअर से मर्दित स्थान ■■■ उत्पन्न हुए कृत्त’ का इंटल’ समझते हैं तो अन्य लोग कहते हैं कि वह एक प्रकार का रसायन था जिसे चुंद ने और अग्नि के लिए खिलाया था।

अभी तुरंत ही पाँच सौ गाड़ियाँ पार हुई हैं जिनके चक्को से हिंदोरा जाकर पानी मिला और गँदला हो गया है। पास ही कुकुछा नदी बहती है जिसका जल स्वच्छ, शीतल, स्वास्थ्यकर और पवित्र है : भगवान् वहाँ चलकर पानी पिये और गात्र को भी शीतल करें।” इस पर भगवान् ने फिर कहा “आनंद, जाओ कहीं से पानी लाओ पीऊँगा, आनंद पीऊँगा” और जब इसके भी उत्तर में आनंद ने वे ही बातें कही तो इसे उन्होंने फिर तीसरी बार दोहराया। इस पर “भन्ते, बहुत अच्छा” कहकर आनंद ने पात्र उठाया और वे उस गँदले पानी वाली नदी की ओर ही चले गए, किन्तु आश्चर्य है कि उसका पानी उन्हें स्वच्छ मिला। जब भगवान् ने पानी पी लिया तो वे फिर उस बड़े भारी भिक्षु-संघ के साथ कुकुछा नदी की ओर भी गये और उन्होंने उसमें बैठकर स्थान किया और कुल्ला किया। फिर उस नदी को लाँघ कर वे जहाँ आम्रवन था वहाँ आये और चूंद सोनार को बुलाकर बोले “चूंद, यहाँ आओ, संघाटी को चपेट कर बिछाओ, चूंद, मैं बहुत थक गया हूँ, लेटूँगा।” तब चूंद ने उनकी आज्ञा का पालन किया और भगवान् दाहिनी करवट, पैर पर पैर रख, सिंह शय्या लगाकर लेट गए—सचेत और स्मृतिमान् भी हो गए। चूंद भी सामने बैठ गया। भगवान् ने आनंद से कहा, “कदाचित् चूंद सोनार को यह पछतावा न हो कि “मेरा अलाभ हुआ, मेरा भाग्य बुरा हुआ जो बुद्ध मेरा ही अंतिम भोजन खाकर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। आनंद यदि चूंद को ऐसा ही पछतावा हो तो उसे समझा बुझा देना आवस्य चूंद, तुम्हारा लाभ हुआ, तुम्हारा भाग्य जागा कि बुद्ध तुम्हारे ही अंतिम भोजन को खाकर निर्वाण को प्राप्त हुए..... दीर्घजीवी चूंद ने आयु देने वाला पुण्य कमाया है—वर्ण देने वाला, सुख देने वाला, स्वर्ग देने वाला, यश देने वाला और ऐश्वर्य देने वाला।” भगवान् ने इस प्रकार आनंद से चूंद का पछतावा हटा देने के लिए कहा और उनके मुख से उदान के ये शब्द भी निकल पड़े—“दान देने से

पुण्य बढ़ता है, संयम करने से बैर नहीं बढ़ने पाता । पुण्यवान् पाप को छोड़ देता है, राग-द्वेष मोह का छ्य हो जाने से वह परिनिर्वाण पाता है ।”^१

‘उदान’ के वचनों वाले सभी प्रसंग एक समान रोचक नहीं हैं और उनमें से अधिकतर अत्यंत लघु और अपर्याप्त भी जान पड़ते हैं फिर भी उनके महत्व में, इस कारण, कमी नहीं आती कि उनके द्वारा भगवान् बुद्ध के अत्यंत गूढ़ एवं गंभीर वचनों का भी रहस्योद्घाटन करने में हमें अच्छी सफलता मिल सकती है । ‘उदान’ के अंतर्गत भी जातकों, बेरी गाथाओं तथा बैर गाथाओं के ही समान, भगवान् की अलौकिक शक्तियों की ओर बराबर संकेत किया गया है और उनके द्वारा प्रदर्शित विविध चमत्कारों का उल्लेख भी किया गया है जिसके आधार पर कदाचित्, अंध-विश्वास एवं सांप्रदायिकता भी दोष लगाया जा सके । परंतु, इसमें संदेह नहीं कि जहाँ तक प्राचीन भारत के ऐतिहासिक जन-जीवन का सम्बंध है उसके उपयुक्त अध्ययन में नौबतों के धार्मिक साहित्य से भी बहुत बड़ी सहायता ली जा सकती है ।

चौरासी सिद्ध और उनके संप्रदाय

(१)

‘सिद्ध’ शब्द के प्रयोग, हमारे प्राचीन ग्रन्थों में प्रायः दो प्रकार के मिलते हैं। ‘अमरकोश’ में सिद्ध नाम की किसी एक दिव्य जाति की चर्चा की गई है जो यक्षों, गंधर्वों, किन्नरों, गुह्यकों, आदि जैसी है और जिसकी गणना देव-योजि में की जाती है।^१ ऐसी ही सिद्ध जाति की स्त्रियों का प्रसंग महाकवि कालिदास के ‘मेघदूत’ में आता है जहाँ पर उन्होंने उनका वायु-वेग से अग्रसर होते हुए मेघों की ओर भोल्लेगन के साथ देखना और चकित होना बतलाया।^२ इसी प्रकार महाकवि वाल्मीकि रचित कहे जाने वाले प्रसिद्ध स्तोत्र ‘गंगाष्टक’ में भी निर्मल गंगाजल में स्नान करनेवाली स्त्रियों में, गंधर्व, अमर एवं किन्नरों की भाँति सिद्ध बधुओं का भी उल्लेख मिलता है।^३ पुराणों के अनुसार इस जाति के लोगों का निवास-स्थान भुवर्लोक समझा जाता है और कभी-कभी अंतरिक्ष भी बतलाया जाता है। इनके लिए यह भी प्रसिद्ध है कि इनकी संख्या अठ्ठासी सहस्र की

१. विद्याभरणसरो यचरन्तो गंधर्व किन्नराः ।

विद्याधरो गुह्यकः सिद्धो भूतोऽपि देवयोनयः ॥

—अमरकोश (१-११)

२. अग्नेः शक्रं हरति पवनः किञ्चिदित्युन्मुखीभिः ।

धरोऽस्माहश्चकितं चकितं मुखं सिद्धाङ्गनाभिः ॥

—पूर्व मेघदूतम् (१३) ।

३. गन्धर्वामर सिद्ध किन्नर बधू तुक्स्तभास्फातितम् ।

स्नानाय प्रति वासरं भवतु मे गङ्गा-जलं निर्मलम् ॥

—गङ्गाष्टक ।

और ये अमर भी हुआ करते हैं। परंतु कहीं-कहीं गंधर्वों वा किन्नरों की भाँति इनके हिमालय पर्वत पर भी रहने का अनुमान किया गया मिलता है और महाकवि कालिदास का भी उपर्युक्त संकेत संभवतः किसी पर्वतीय जाति की ओर ही लक्ष्य जान पड़ता है। श्री लै० वी० वैद्य के अनुसार भी सिद्धों का निवास-स्थान हिमालय प्रदेश का दक्षिणी ढाल ही हो सकता है।^१

‘सिद्ध’ शब्द का एक दूसरा प्रयोग ऐसे लोगों के लिए किया गया मिलता है जो योग वा तप जैसी साधनाओं द्वारा सिद्धि प्राप्त कर मुक्त दशा तक पहुँचे हुए समझे जाते रहे हैं और जिनकी गणना, इसी कारण, बहुधा महर्षियों के साथ भी की जाती रही है। श्री मद्भगवद् गीता के अंतर्गत ऐसे सिद्धों वा महर्षियों के साथ-साथ विराट् रूप के प्रति स्वस्ति-वादन करना तथा स्तुति-गान में प्रवृत्त होना कहा गया है।^२ इसके सिवाय उसी ग्रन्थ में श्रीकृष्ण का यह कथन भी मिलता है कि विभूतिमान् सिद्धों में मैं कपिल मुनि हूँ।^३ गोस्वामी तुलसीदास ने तो सिद्धों को विरक्तों, महामुनियों एवं योगियों के साथ स्पष्ट शब्दों में गिना है और उन्हें ‘सदा काम के चेरे’ समझे जाने वाले देव, दनुज, नर एवं किन्नरादि से भिन्न भेदी में स्थान दिया है।^४ इसी प्रकार उनके एक मंगलाचरण वाले श्लोक में भी पाया जाता है कि सिद्ध लोग

१. C.V. Vaidya : The Riddle of the Ramayan, p94.

२. स्वस्ति सुकृत्वा महर्षिः सिद्ध संघाः स्तुवन्ति ।

३. त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥—गीता (११-२१) ।

४. सिद्धानां कपिलो मुनिः ।—बही (१०-२६) ।

५. केव दनुज नर किन्नर व्यासा । प्रेत पिशाच भूत बेलासा ॥

इन्हके वसा न कहेउ बलासी । सदा — के चेरे जानी ॥

सिद्ध विरक्त महामुनि जोगी । तेपि कामबस भए वियोगी ॥

—रामचरित मानस (बा० का०)

अपनी भद्धा एवं विश्वास की सहायता से 'स्वान्तःस्थ ईश्वर' का साक्षात् लेते हैं।^१

इसके सिवाय 'सिद्ध' शब्द उन लोगों के लिए भी प्रयुक्त होता आया है जो रसेश्वर सिद्धांतों के अनुयायी होने के कारण 'रसेश्वर सिद्ध' के नाम से प्रसिद्ध थे। ये लोग अंतर्वेद प्रदेश के निवासी और इनका विश्वास था कि पारे की रसायन-क्रिया द्वारा कायाकल्प कर शरीर को अमरत्व प्रदान किया जा सकता है। पारा वा पारद इनकी क्रिया का प्रधान रस था और वह साधक को संसार सागर के दूसरे पार तक पहुँचानेवाला समझा जाता था।^२ इन सिद्धों की संभवतः नव पृथक्-पृथक् परंपराएँ थीं जिसमें नव कोटि सिद्धों का पाया जाना बतलाया जाता है।^३ परंतु कुछ लोगों का यह भी अनुमान है कि ये नव कोटि सिद्ध वस्तुतः उस प्रसिद्ध चीनी ताओ-धर्मी भोग द्वारा प्रभावित थे जो अपने देश से ईसा के पूर्व की किसी छताब्दी में यहाँ ग़ाज़ी होकर आया था। उस भोग ने दक्षिण भारत के शैवागम एवं शाक्तागम वालों को 'शुद्ध मार्ग' की शिक्षा दी जिस कारण वहाँ के आगमी सिद्धों पर कुछ न कुछ ताओ धर्म का भी प्रभाव पड़ गया।

१. भवानी शंकराई बौद्ध भद्धा विश्वास रूपिणी।

चान्म्या बिना न पश्यन्ति, सिद्धाः स्वान्तःस्थमीश्वरस्य

—रा० च० मा०—बा० का०

२. संसारस्य परंपारं वृक्षेज्जसौ पारदः स्मृतः।

३. ऐसे सिद्धों को हिंदू संतों कहीं-कहीं दिव्यौघ, मानवौघ एवं सिद्धौघ नामक तीन वर्गों में विभाजित किया भी मिलता है जैसे "दिव्यौघाश्च मानवौघाश्च सिद्धौघाश्च समागताः।" सलिला नाम (बंबई १६१६) और तारारहस्य, कौलावली तंत्र एवं रहस्य आदि इनमें से कुछ नाम भी दिये गए मिलते हैं। दे० कमरः पृ० ११५, पृ० ७६ एवं पृ० २४।

इस ■ मार्ग के अनुयायी सिद्धों में सर्व प्रसिद्ध 'अष्टादश सिद्ध' समझे जाते ■ और उनमें शैवमक्त मणिवाचक, वागीश, शान सम्बंध एवं सुंदर की भी गणना की जाती है । ये शुद्ध मार्गी लोग शान-सिद्धों के नाम से भी अभिहित किये जाते हैं और कहा जाता है कि ये अमर हैं । कुछ लोगों की धारणा है कि उक्त भोग अगस्त्य का समकालीन ■ जो आजकल के तिनेवली जिले में वर्तमान सिद्धकूट पर्वत पर रहा करते थे । शुद्ध-मार्गियों के इस प्रदेश तक उत्तरी भारत के गुह्य गोरखनाथ भी ईसा की १० वीं शताब्दी में आये थे और सभी नवनाथ वहाँ से न्यूनाधिक प्रभावित थे जिस कारण उन्हें कभी-कभी नाथ-सिद्ध भी कहा जाता है । शुद्ध मार्गी ज्ञान-सिद्धों के अनुसार पूर्ण सिद्ध वही कहला सकता है जो अपने शरीर को काय-साधनों द्वारा पूर्णतः वश में किये रहता है और जो इस प्रकार अदृश्य रूप में सदा अमर बना रहता है ।^१

परंतु चौरासी सिद्धों को हम उपर्युक्त काल्पनिक वा अर्द्ध काल्पनिक वर्गों में से किसी एक में भी नहीं रख सकते । ये सिद्ध एक नितांत भिन्न प्रकार से चिंतन करने वाले, नवीन ढंग की साधनाओं में प्रवृत्त रहने वाले तथा एक विचित्र प्रकार की रहन-सहन के साथ जीवन व्यतीत करने वाले ऐतिहासिक व्यक्ति ■ । इनकी परंपरा का सम्बंध बौद्ध धर्म और विशेषकर उसके महायान संप्रदाय के साथ जुड़ा हुआ था और ये वज्रयान के अनुयायी एवं सहजयान के समर्थक थे तथा इनमें से कुछ लोग काल-चक्रयान में भी सहयोग प्रदान करते ■ । ये कदाचित् योगशास्त्रानुमोदित साधना-प्रणाली से परिचित थे, किन्तु इनकी सिद्धता ■ आधार केवल योग-दर्शन में बतलाई गई 'समाधिज' अग्निमादिक

1 Jyotirbhushan V. V. Raman Sastri: The Doctrinal Culture and Tradition of the Siddhas. (Cultural Heritage of India Vol II, pp 313-17.)

सिद्धियाँ ही नहीं थी। इनके सम्बंध में हम उतने निश्चित ■ से नहीं कह सकते कि इन्होंने उसमें उल्लिखित जन्मौषधि मंत्र तथा तपोजन्य सिद्धियाँ भी प्राप्त की थी या नहीं। ये सिद्धियाँ भी वस्तुतः वे ही हैं जो योगियों को समाधि द्वारा प्राप्त हुआ करती हैं। पुराणों एवं संतों में कुछ इस प्रकार की सिद्धियों की भी चर्चा आती है जो कतिपय अलौलिक साधनों द्वारा उपलब्ध की जा सकती है और जिन्हें अंजन, पादुका, गुटिका, धातु-भेद, बेताल, वज्र, रसायन एवं योगिनी की सहायता से प्राप्त की जाने वाली सिद्धियों के नाम से अभिहित किया जाता है। तान्त्रिक साधना करने वाले कापालिक लोग बहुधा इसी प्रकार की सिद्धियों के फेर में रहा करते थे और उन्हीं के आदर्शों पर बड़े-बड़े महात्माओं के अनुयायी उनकी अलौलिक शक्तियों का प्रदर्शन किया करते थे। भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र की रचना 'सत्य हरिश्चंद्र' नामक नाटक में कापालिक वेषधारी धर्म द्वारा उक्त सिद्धियों की उपलब्धि बड़े गर्व के साथ नतलायी गई है^१ और संतों एवं महापुरुषों के भ्रमालु जीवनी-लेखकों ने इस प्रकार की चमत्कार भरी बातों को अपनी रचनाओं के अंतर्गत महत्व देना अभी तक नहीं छोड़ा है। गोस्वामी तुलसीदास ने 'श्रीगुरु पद नख मणिगन जोती' के स्मरण मात्र द्वारा हृदय में उत्पन्न हो जाने वाली 'दिव्य दृष्टि' का वर्णन करते समय उस 'सुअंजन' का भी उल्लेख कर दिया है जिसे अपनी आँखों ■ श्रीज कर न केवल साधक मात्र अपितु 'सिद्ध' एवं 'सुज्ञान' भी गुप्त धन

१. जन्मौषधि मन्त्र तथा समाधिज्ञाः सिद्धयः ।

योगदर्शन (कैवल्यपाद, १)

२. अंजन गुटिका पादुका, धातुभेद बेताल ।

■ रसायन योगिनी, मोहिं सिद्ध यहि काळ ॥

—सत्य हरिश्चंद्र, अ० ४ ।

देखा करते हैं ।^१

‘हठयोग प्रदीपिका’ में कहा गया है कि महामुद्रा, महाबन्ध, महावेध, खेचरी, उष्मान, मूलबन्ध, जालंधरबन्ध, विपरीतकरणी, वज्रोली तथा शक्ति-चालन नाम की दस मुद्राएँ प्रसिद्ध हैं जिनका प्रचार स्वयं आदिनाथ ने किया था और जो सभी सिद्धों को प्रिय हैं । इन दशों को ग्रन्थकार ने रजों की पिटारी के समान परमगोप्य बतलाया है और इन्हें सर्वसाधारण क्या मरुतों तक के लिए दुर्लभ माना है ।^२ चौरासी सिद्धों में भी ये साधनाएँ अवश्य प्रचलित रही होंगी, क्योंकि इनमें से कुछ के प्रसंग वज्रयानी ग्रन्थों में भी मिलते हैं । इसके सिवाय इन दशों में से कम से कम एक अर्थात् जालंधरबन्ध का विशेष सम्बंध सिद्ध जालंधरीया के साथ समझा जाता है । वज्रयानियों के अनुसार सिद्धव किन्हीं दुष्कर वा कठोर नियमों के पालन से नहीं मिलता, प्रत्युत सारी उपभोग्य वस्तुओं के सेवन से ही उपलब्ध होता है ।^३ इसी कारण

१. जथा सुखंजन आनि हग, साधक सिद्ध सुजान ।

कौतुक देखत सैल बन, भूतल भूरि निधान ॥

—श० च० मा०, बालकांड, अष्टक १

२. महामुद्रा, महाबन्धो, महावेधश्च खेचरी ।

उष्मानं मूलबन्धश्च, बन्धो जालंधरान्निधः ॥६॥

करणी विपरीताकृपा, वज्रोलीशक्ति चालनम् ।

इदं हि मुद्रादशकं, जरामरण नाशनम् ॥

आदि नाथोक्तिं विद्ध्य, अष्टैश्वर्यं प्रदायकम् ।

वक्त्रमंससर्वं सिद्धानां, तुल्यं मरुतामपि ॥८॥

गोपनीयं ग्रन्थत्वेन यथा रत्नकरणकम् । इत्यादि—ह० प्र०, पृ० १६-७

३. पुष्करैर्मिदमैस्तीक्ष्णैः, सेव्यमानो न सिद्ध्यति ।

सर्वं कामोपभोगैस्त, सेक्यं श्राद्धं सिद्ध्यति ॥

—गुह्यसंभाषणं, सप्तमपटल, पृ० २७

उन्होंने अपनी प्रमुख साधनाओं के अंतर्गत विविध प्रकार की स्त्रियों को महामुद्रा बनाने का भी आयोजन किया था। उनका कहना था कि ऐसा करते समय किसी साधक को स्त्रियों के कुल, जाति अथवा उनके साथ अपने निजी सम्बंध तक ■ विचार नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रज्ञापारमिता, वास्तव में, ललना का रूप धारण कर सर्वत्र एक समान वर्तमान समझी जाती है^१ और जुगुप्सित अर्थात् निंदकुल में उत्पन्न स्त्री का इसके लिए स्वीकार किया जाना कुछ अधिक महत्व रखता है; उसके द्वारा कुछ और भी शीघ्रता के साथ सिद्धि की प्राप्ति हो सकती ■ ।^२ इसलिए प्रसिद्ध है कि चौरासी सिद्धों में से प्रायः सभी ने अधिकतर अंत्यजों की कन्याओं को ही महामुद्रा बनाकर अपनी साधना की थी। ये महामुद्राएँ उनकी सहचरियों की भाँति योगिनियों के रूप में उनके साथ रहा करती थीं और इस प्रकार अभ्यास कर लेने पर ही उन्हें सिद्ध समझा जाता था।

परंतु इन सिद्धों की प्रवृत्ति बहुधा सहजयान की ही और अधिक रहा करती थी, इस कारण, प्रारंभ में इनके संस्कार मूल वज्रयान के अनुसार चाहे जैसे भी बन चुके हों, इनका मुख्य उद्देश्य सहज-साधना का प्रचार था। उन्होंने डोम्बी, चाँडाली जैसी योगिनियों के नाम अवश्य लिये ■ और उनके प्रति अपनी भक्ति भी प्रदर्शित की है, किन्तु ऐसे स्थल अधितकर उनके परंपरा-पालन अथवा अधिक से अधिक एक प्रकार के कुतश्चिन्ता प्रकाशन के ही द्योतक जान पड़ते ■ ।

१. प्रज्ञा पारमिता लेख्या सर्वथा मुक्तिकाङ्क्षिभिः ॥२२॥

ललना रूप सा-स्त्राय सर्वत्रैव व्यवस्थिता ॥२३॥

—प्रज्ञोपाय विनिश्चयसिद्धि, पृ० २२ ।

२. चारुवालकुल सम्भूतां, डोम्बिकां वा विशेषतः ।

जुगुप्सित कुलोत्पन्नां, सेवयन् सिद्धि मप्नुयात् ॥८२॥

—ज्ञानसिद्धि, पृ० ३३ ।

एकाध सिद्धों ने ऐसी साधना के लिए निर्रे 'सुरसहिलास' जैसे शब्द का भी प्रयोग किया है^१ जिससे उसका उच्च कोटि की साधना कह-
लाना सिद्ध नहीं होता। फिर भी इन सिद्धों की साधना वैष्णव
सहजिया संप्रदाय की वैसी साधना से मूलतः भिन्न थी। सिद्धों का
प्रधान उद्देश्य इसके द्वारा अपनी मानसिक वृत्तियों को विकसित और
परिष्कृत कर अपने चित्त को शुद्ध, निर्मल एवं सहज ■ प्रदान करना
था, जहाँ वैष्णव सहजिया पंथ के अनुयायी उसकी सहायता से अपने
हृदय के भीतर विशुद्ध प्रेम का भाव जागृत किया करते थे। सिद्ध
लोग महामुद्रा के प्रति अपने आकर्षण का अनुभव किसी हार्दिक भाव
के रूप में नहीं करते थे, यह उनके लिए केवल चित्त-शुद्धि क्रिया में
आवश्यक और स्वाभाविक एक मानसिक प्रवृत्ति वा भावना मात्र
ही था। सिद्धों को भी बहुधा नौद सहजिया कहा जाता है क्योंकि ये
भी वैष्णवों के 'मधुर भाव' के समान ही 'धुगनदरूपी सहजानन्द' की
कल्पना करते हैं। किसी प्रकार की शास्त्रीय पद्धति का अनुसरण करना
आवश्यक नहीं समझते, तांत्रिक विचार-धारा से बहुत कुछ प्रभावित
जान पड़ते हैं, अपने गुरुओं के प्रति पूरी आस्था रखा करते हैं
और सर्वत्र समानता के ही भावों का प्रदर्शन अपना कर्तव्य मानते
हैं।^२ परंतु वैष्णव सहजिया के अनुयायियों की प्रत्येक साधना जहाँ,
प्रधानतः किसी अलौकिक ईश्वरीय भावना द्वारा अनुप्राणित रहा
करती है, वहीं नौद सहजिया वाले सिद्धों को इन बातों से कुछ भी
प्रयोजन नहीं है। ये तो भ्रमों से परिच्छिन्न इस प्रपंचमय संसार में
भी अपने 'उज्जाट' वा सीधे मार्ग के ही पथिक हैं और इन्हें अह-
सिद्धियाँ उस पर चलते समय आपसे आप मिल जाया करती हैं।^३

१. कमल कुलिस बेवि मज्झटिड जो सो सुरसहिलास ॥

—सरहपा का दोहाकोष, पृ० ६४।

२. एम्-एम् मोस : पोष्ट चैतन्य सहजिया कष्ट, पृ० १६४-७७।

३. पूषा लब्धमहासिद्धि सिवमह उज्जाट जाधन्ते—शांतिपा।

सिद्धों की रचनाओं में अंजन, गुटिका, पादुका आदि अलौकिक साधनों के प्रयोगों की चर्चा नहीं पायी जाती। किन्तु अन्य उपर्युक्त बातों की ओर किये गए कुछ न कुछ संकेत इनमें प्रायः सर्वत्र मिला करते हैं और प्रतीत होता है कि ये लोग बेताल, वज्र, धातुमेद, रसायन एवं योगिनी की सहायता अपने निजी दंग से लिया करते थे। इनका इन्होंने पूर्ण परित्याग नहीं किया था, कम से कम इनका सम्बंध इनमें से किसी न किसी के साथ पहले अवश्य रह चुका रहता था। उदाहरण के लिए सिद्धाचार्य कण्हपा का कहना है “मैं सहज सत्य का अनुभव करता हुआ अब ‘मण्डल चक्र’ से विमुक्त हो गया”^१ तथा “मैं इस ज्ञात को परमार्थरूप में कहता हूँ कि जिस किसी ने अपने चित्त को निज ग्रहिणी के साथ रहकर निश्चल बना लिया वही, वास्तव में, नाथ वा वज्रधर कहलाने योग्य हो जाता है।^२ इसी प्रकार वे अपने को, ‘जोमिन’ के ही कारण हड्डियों की माला धारण करने वाला ‘कपाली’ भी कहते हैं^३ और अन्यत्र अपना वर्णन ‘कान्ह कपाली योगी’ के रूपक द्वारा करते हैं।^४ सिद्ध भुसुकपा का भी कहना है कि मैं आज निज ग्रहिणी के रूप में चाण्डाली को ■■■ कर पूरा बंगाली बन गया^५ और, इसी प्रकार, सिद्ध गुंडरीपा भी ‘जोगिनी’ को संबोधित

१. मण्डल चक्र विमुक्त, अश्वज्जं सहज सधोदि ॥१८॥

—कण्हपा का दोहाकोष।

२. जेकिअ णिअल मण रअण, णिअधरिणी लह पत्थ।

सोह वाजिर गान्हुरे भयिं हुत्तो परमएथ ॥३१॥

—कण्हपा ■ दोहाकोष।

३. एलो डोम्भी हाजें कपाली। तोहोर अन्तरे मोण धेणिलि
हावेरि भाएली। चम्म, १८॥

४. वही, चर्चा ११।

५. आजि भूस बङ्गाली भइली। णिअ धरिणी चण्डाली खेली—
चर्चा ४६।

करते हुए बतलाते हैं “मैं तेरे बिना क्षणमात्र भी जीवित नहीं रह सकता।”^१ इसके सिवाय सिद्धाचार्य सरहपा के इस कथन से कि जिस किसी को जीवन एवं मरण के विषय में कोई आशंका हो वह रसायन क्रिया को अपनाये रहे, ■ तो दोनों को एक ही समझता हूँ तथा उन दोनों में से किसी में भी कोई विशेषता न पाकर ‘उस अचिंत्य बाम’ की ओर प्रवृत्त हूँ^२ उनके रसायन प्रयोग के साथ भ्यूनाधिक परिचित होने की ध्वनि निकलती है।

फिर भी इन सिद्धों में से कोई भी उपर्युक्त बातों की ओर अधिक ध्यान देता हुआ नहीं दीख पड़ता। इनका मुख्य लक्ष्य सहज स्थिति में पहुँचकर सहज प्रवृत्ति के अनुसार जीवन-यापन करने का उपदेश देना जान पड़ता है। इसीलिए सिद्धाचार्य सरहपा का कहना है “सिद्ध वह है जिसने अपने चित्त को समरस रूपी सहज में निश्चल कर दिया और इस प्रकार जरा-मरण से उसी समय मुक्त हो गया”^३। इनके अनुसार यह स्थिति ‘सञ्जसंवेदन’ (स्वयंसंवेदन) अथवा निर्भीत पूर्णज्ञान की चरमावस्था है, जहाँ पहुँचकर सिद्ध लोग ‘महासुख’ ■ लीन हो जाते हैं। जैन मुनि रामसिंह ने भी कहा है “जिन लोगों में वेदपुराणादि वा भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के कारण उत्पन्न होने वाली कोई भ्रांति न रह जाय और जो ऐसी अवस्था तक पहुँचकर आनंद में मग्न रहने लगे उन्हीं को ‘सिद्ध’ कहना उचित है, अन्य को नहीं।”^४ ऐसे ही महा-

१. जोइति तैंइ जिनु सगहिं न जीवनि—चर्या ४।

२. वही, चर्या २२।

३. सहजे शिखल जेव किअ, समरस शिखमण राअ।

सिद्धो सो पुण तपसये, याउ जरामरण भाअ ॥१३॥

—कायस्थपा ■ दोहाकोष।

४. सिद्धत पुराणहि वेय बड सुखंतह याउ भंति।

आवावेय व काम गउ, ता बड सिद्ध कहति ॥१२१॥

—पाहुषदोहा।

पुरुषों के लिए कदाचित् एक दूसरे जैन मुनि जोइंदु भी कहते हैं 'वे अपनी उस परम समाधि की महामि में अपने सारे कर्मों ■■■ हवन कर देते हैं और इस प्रकार बंदनीय भी हो जाते हैं।' किन्तु बौद्ध सिद्धों और जैन मुनियों के आदर्शों में फिर भी बहुत कुछ अंतर पाया जाता है। मुनिराम सिंह और जोइंदु का आविर्भाव संभवतः बौद्ध सिद्धों के ही युग में हुआ था और वे इनके वातावरण से प्रभावित भी थे। उस काल के नाथ-पंथियों ने भी 'सिद्ध' शब्द का व्यवहार करते समय उक्त सिद्धों की विशेषताओं की ओर ही ध्यान दिया है। बहुत से प्रसिद्ध नाथों की गणना चौरासी सिद्धों में भी की जाती है और गुरु गोरखनाथ की एक 'बानी' में भी उनका 'सिख गोरख माछै' कहना दीख पड़ता है।^१ सिद्धों की प्रशंसा करते हुए उन्होंने बतलाया है कि सिद्धों ने गगन मण्डल तक पहुँचकर अनुभूति प्राप्त की थी जिसे ग्रन्थों में निहित किया गया और उसके केवल बाह्य ■■■ से ही पंडित लोग परिचित हो पाये, उसके सारतत्त्व को केवल सिद्धों ने ही ग्रहण किया और वे उससे लाभान्वित हो गये।^२ इसी कारण उन्होंने सिद्धों की विशेषता के रूप में उस निर्मल एवं शुद्ध बुद्धि युक्त वाणी का वर्णन किया है जिसके द्वारा वास्तविक रहस्य का भेद मिलता है।^३

१. से हवं बंदउ सिद्धगण अक्कहिं जेवि हवंत ।

परमस्वमाहिमहगियए, कम्मिअणहँ हुणंत ॥१॥—परमात्मप्रकाश

२. गोरख बानी, पृ. ५३. पृ. १५१ ।

३. गियनि मंडल में गाय मियाई, कागद वही जमाया ।

झाङ्गि झांथि पिंडता पीवी, सिंघा माथण पाया ॥१३६॥

—वही, पृ. ६६ ।

४. राजा सोमंत दल प्रवांसी, पूँ सिधा सोमंत सुधि बुधि की वांणी ॥६५॥

—वही पृ. २३

बौद्ध धर्म के महायान संप्रदाय में नागार्जुन के शून्यवाद का जो प्रचार हुआ वह तर्क-पद्धति के अत्यंत शुष्क परिणाम का चोतक था और इस कारण निर्वाण-सम्बंधी धार्मिक मान्यताओं की ओर से सर्वसाधारण बहुत उदासीन से होने लगे। मैत्रेय नाथ एवं बसुबन्धु के योगाधार का भी उन पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ा क्योंकि कोरे तार्किक से मनोवैज्ञानिक बन जाने मात्र से ही वह हार्दिक संतोष और समाधान संभव नहीं जो एक धार्मिक वर्ग के लिए अभिप्रेत है। तदनुसार उक्त दार्शनिक विचार-धाराओं की एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया के रूप में इंद्रभूति के महासुखवाद का आरंभ हुआ। इंद्रभूति ने नागार्जुन द्वारा दिये गए निर्वाण के 'शून्य' स्वरूप तथा बसुबन्धु द्वारा निर्दिष्ट 'विवृति मात्रता' के स्थान पर 'महासुख' के परमानंद की स्थिति की कल्पना की और उसके लिए कल्पित साधनाएँ भी बतलायी।¹ इंद्रभूति उड़ीसा के एक राजा समके जाते हैं जिनका आविर्भाव ईसा की ८वीं शताब्दी में हुआ था। कहते हैं कि उन्हीं की महन लक्ष्मीकरा यो जिन्होंने सहजयान का प्रवर्तन कर अपने भाई के उपर्युक्त मत में पूरा सहयोग प्रदान किया। इंद्रभूति और लक्ष्मीकरा दोनों की गणना ८४ सिद्धों में की जाती है।² इंद्रभूति के समय तक वज्रयान का प्रचार हो चुका था और उस काल के लोग मंत्रयान से भी प्रभावित थे। वज्रयान के कारण विभिन्न तान्त्रिक देवताओं की पूजन-पद्धति एवं मण्डल-चक्रों के अनुष्ठान चल रहे थे और मंत्रयान में कोरे मंत्रों की शक्ति में अधविश्वास को प्रक्षय देता हुआ ज्ञान एक रहा था। लक्ष्मीकरा ने अपने सहजयान द्वारा इस बात का प्रचार किया कि दोनों का पूजन, तीर्थ, मत अथवा मंडलादि का वास्तविक विधान निरर्थक है और इनके द्वारा मोक्ष कदापि

1. Proceedings and Transactions of the 3rd Oriental Conference, Madras, 1924, pp 129-41
2. The Cultural Heritage of India, Vol. II, p 219

संभव नहीं। उसकी प्राप्ति के लिए सामाजिक नियमों तक का पालन आवश्यक नहीं। मानव शरीर सभी देवों का वास्तविक अधिष्ठान है और सत्य की श्रुतिभूति के लिए अपने चित्त को पूर्णतः निर्मल और विशुद्ध कर लेना ही पर्याप्त है। उसी के द्वारा सहज दशा की उपलब्धि होती है जिसके आगे किसी भी नियम का पालन व्यर्थ है। चौरासी सिद्धों में से बहुत से उन्नीसा प्रांत के निवासी कहे जाते हैं और शेष में से भी कई का कुछ न कुछ सम्बंध उससे बतलाया जाता है। उनकी भाषा का भी उड़िया भाषा के साथ बहुत कुछ साम्य दिखाया जाता है।^१ परंतु इस मत के लिए अभी तक पूरा प्रमाण उपलब्ध नहीं है।

चौरासी सिद्धों में से कई एक का सम्बंध आगे चलकर कालचक्रयान से भी हो गया था जो महायान के अंतर्गत प्रचलित होने वाले उप-संप्रदायों में अन्यतम था। कालचक्रयान को कुछ लोगों ने काल को भवकर राजस के रूप में अधिष्ठित मानने वालों का वर्ग माना है, परंतु बात ऐसी नहीं है। सिद्ध नारोपा ने अपनी रचना 'सेकोदेश टीका' में कालचक्रयान ■■■ मत बतलाते समय कहा है कि ■■■ लोग सभी कोई सदा से मुक्त-स्वरूप हैं, किन्तु अज्ञान के ■■■■ हमें इसका पूरा बोध नहीं हो पाता। कालचक्रयान के 'काल' शब्द ■■■ 'का' अक्षर उस कारण का प्रतीक है जो सर्वकारण रहित ■■■ में अंतर्निहित रहता है, अतएव हमें कारण की भावना तक कोषप्रयोग द्वारा दबा देना चाहिए और 'ल' अक्षर का अभिप्राय ■■■ ■■■ से है जो नित्य संश्रुति में सदा के लिए सबके अंतर्भूत होने की ओर संकेत करता है।^२ इसी प्रकार 'चक्र' शब्द ■■■ 'च' भी प्रवृत्ति का बोधक

1. The Journal of the Kalinga Historical Research Society, vol. I, No. 4, p 297

२. कालांतराकारण्ये शान्ते, लक्ष्मणराजयोगिनैः ।

लक्ष्मणराज चिन्तय, कालांतरात्मवन्दनैः । — सेकोदेशटीका, पृ० ८१

है और 'क' उसके क्रम वा विकास का पूर्ण निरोध करने की ओर हमें प्रवृत्त करता है। सिद्ध नारोपा ने, इसी प्रकार 'आदिबुद्ध' की भी व्याख्या अनादि, अमृत एवं सर्वश के रूप में की है और सबके लिए उस अंतिम दशा तक पहुँचने का मार्ग निर्दिष्ट किया है।¹

इस प्रकार चौरासी सिद्धों में गिने जाने वाले लोग न तो किसी जाति विशेष के व्यक्ति थे, न केवल रसायनादि का प्रयोग करने वाले अथवा तांत्रिक विधियों में सदा निरत रहने वाले साधक ही थे। ये भिन्न-भिन्न साधनाओं द्वारा पूर्णता की एक स्थिति विशेष तक पहुँचे हुए महापुरुष समझे जाते थे। इसी कारण, इनकी सुक्तियों का बहुत बड़ा महत्व दिया जाता था तथा समय पाकर इनके एक पृथक् वर्ग की भी कल्पना कर ली गई थी। इनमें ब्राह्मण से लेकर क्षत्रिय, शूद्र, कायस्थ, कद्दार, तंत्रवाय, दर्जी, मछुए, घोबी, चमार और चिड़ीमार तक सम्मिलित थे और इनमें [] पंडित एवं कलाकार से लेकर निरक्षर व्यक्तियों [] का समावेश था। इनके आविर्भाव का क्षेत्र भी बहुत विस्तीर्ण था। परंतु प्रसिद्ध-प्रसिद्ध बौद्ध विहारों और विश्वविद्यालयों में बहुधा एकत्र होते रहने तथा एक संस्कृति विशेष के अनुयायी होने के कारण उनकी ग्रन्थरचना-शक्ति और विचार-भारा में कोई महत्वपूर्ण अंतर नहीं आया था। ये कामरूप, चंपा, उड़ीसा से लेकर मालवा, मारवाड़ और सिंध तक के निवासी थे और कांची एवं कर्णाटक से लेकर कश्मीर तक में उत्पन्न हुए थे। किन्तु इनकी भाषा [] उसना अंतर नहीं लक्षित होता। मितना इस प्रादेशिक विभिन्नता के कारण संभव था। जानकार विद्वानों के अनुसार इनकी दसवीं संख्या ईसा की दसवीं शताब्दी से लेकर १२वीं तक अर्थात् लगभग ५०० वर्षों में पूरी हुई थी। किन्तु इनकी प्रमुख सांप्रदायिक विशेषताओं के प्रायः सदा अनुसरण बने

रहने के कारण इनके वर्ग को बराबर एक विशिष्ट स्थान मिलता आया। इन चौरासी सिद्धों में कतिपय स्त्रियाँ भी संमिलित थी जिन्हें सिद्ध के स्थान पर 'योगिनी' कहा जाता था। इन्हीं सिद्धों के आदर्श को महत्व देते हुए नाथ-पंथियों ने कदाचित् 'सिद्ध योगी' की एक रूपरेखा भी कल्पित की थी जिसका परिचय 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' के अंतिम श्लोकों में है।^१

चौरासी सिद्धों की उपलब्ध सूचियों को देखने से पता चलता है कि उनमें कई प्रसिद्ध नाथों के भी नाम आ गये हैं। प्रायः सभी सूचियों के अंतर्गत हमें न केवल गोरखनाथ का ही नाम आता दीखता है, अपितु उनमें मीन वा मत्स्येन्द्रनाथ, जलंधर या जलंधरी नाथ कश्यपा वा कश्येरीनाथ, नागार्जुन, आदि कई ऐसे भी आते हैं जो प्रसिद्ध नाथ योगियों की भी सूचियों में मिला करते हैं। इसके सिवाय उनकी उपलब्ध रचनाओं में भी हमें बहुत सी ऐसी ही बातें दीख पड़ती हैं जो सिद्ध साहित्य के अंतर्गत भी आ सकती हैं। अतएव, ऐसे सिद्धों को बहुधा 'नाथ सिद्ध' कह देने की भी परंपरा देखी जाती है। परंतु इसका तात्पर्य यह नहीं कि केवल वे ही लोग नाथ सिद्ध कहे जाते हैं जिनकी गणना प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में भी की जाती है। सिद्धों में हमें खरपटी नाथ, जुगकर नाथ, भृशु-हरी, गोपीचंद तथा चोकाचोली जैसे योगियों के भी नाम दीख पड़ते हैं जो चौरासी सिद्धों में नहीं पाये जाते। इसी प्रकार नाथ-पंथियों के ही अंतर्गत समझे जाने वाले राजस्थान के जसनाथी संप्रदाय में भी उसके प्रमुख योगियों को सदा सिद्ध कहलाते हुए ही पाते हैं और वहाँ पर इस उपाधि के पहले 'नाथ' भी जुड़ा हुआ नहीं पाया जाता। 'सिद्ध' शब्द यहाँ पर केवल इस लिए व्यवहृत होता जान पड़ता है कि उसके द्वारा अभिहित लोग किसी परंपरा विशेष के अनुयायी हैं।

१. सिद्ध सिद्धान्त पद्धति : श्लोक ६५-७ (पन्थीपदेश)।

फिर भी 'सिद्ध' शब्द, अपने मूल अर्थ में, वस्तुतः इस बात को ही सूचित कर सकता है कि जिस व्यक्ति के लिए इसका प्रयोग किया जा रहा है वह अपनी साधना विशेष में पूर्णतः कृतकार्य हो चुका है। चौरासी सिद्धों के लिए भी पहले-पहल, यह संभवतः इसी आधार पर प्रयुक्त हुआ था और उनसे अतिरिक्त नाथ-सिद्धों को भी ऐसा केवल, इसी कारण, कहा गया होगा। अभी कुछ ही दिन पहले प्रकाशित 'नाथ सिद्धों की बानियाँ' ^१ के देखने से पता चलता है कि जो रचनाएँ उसमें संगृहीत हैं वे लगभग एक ही प्रकार की शैली द्वारा निर्मित की गई हैं तथा उनका विषय भी लगभग एक ही प्रकार का है। किन्तु उनके रचयिताओं में हमें महादेवजी, पारश्वती जी रामचंद्र जी, लक्ष्मण जी, दत्त जी और हनुवंत जी जैसे पौराणिक नाम भी मिलते हैं जिनके आधार पर यह निश्चित रूप से कहना कठिन है कि किन विशिष्ट व्यक्तियों को सूचित करते होंगे। इनमें से यदि अंतिम दो अर्थात् दत्त जी को प्रसिद्ध दत्तात्रेय मानकर, उनकी उपलब्ध संस्कृत रचनाओं के आधार पर, कोई ऐतिहासिक व्यक्ति स्वीकार कर लें तथा हनुवंत जी को भी नाथ-पंथी 'धन संघदाय' के प्रमुख प्रवर्तक के रूप में देखने की चेष्टा करें, फिर भी शेष चार के विषय में हम ऐसा नहीं कर पाते और इन्हें केवल काल्पनिक मान लेने की ही प्रवृत्ति होती है। ^२ सुयोग्य संपादक का अनुमान है कि लक्ष्मण जी भी प्रसिद्ध लक्ष्मण नाथ वा बालापीर अथवा बालनाथ को सूचित करता है जो कदाचित् परंपरा द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है। परंतु यदि ऐसा है तो फिर 'रामचंद्र जी' शब्द भी किसी उक्त व्यक्ति विशेष का ही बोध करा सकता है जिसके लिए 'रामें आने

१. संपादक हजारी प्रसाद द्विवेदी। नाथ सिद्धों की बानियाँ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, सं० २०१४।

२. नाथ सिद्धों की बानियाँ, बालनाथजी की सबदी, पृ० ११।

लक्ष्य कहें" में 'राम' का प्रयोग किया गया है। स्पष्ट है कि ऐसे व्यक्तियों का कुछ भी पता न रहने के कारण हम उनके सिद्धत्व के विषय में भी कुछ नहीं कह सकते।

चौरासी सिद्धों में से किन-किन को हम बौद्ध-सिद्ध कह सकते हैं, किनको नाथ-सिद्धों की श्रेणी में रख सकते हैं अथवा उनमें से किन को जैन-सिद्ध वा अन्य प्रकार के सिद्ध ठहरा सकते हैं, इसके लिए भी अभी तक प्रचुर सामग्री उपलब्ध नहीं, न अभी तक थही कहा जा सकता कि उनकी संख्या चौरासी तक ही क्यों सीमित की गई है।

(२)

सिद्धों की संख्या चौरासी ही क्यों मानी गई है ? उनमें वह कौन सी विशेषता है जिस कारण वे एक पृथक् वर्ग के समझे जाते हैं ? तथा उक्त संख्या की पूर्ति के लिए प्रायः पाँच सौ वर्षों के एक लंबे समय के लोगों में ही क्यों छानबीन की जाती है आदिकुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर विचार करने वालों में अभी तक मतभेद पाया जाता है। लोगो का अनुमान है कि सिद्धों की चौरासी संख्या उनके भिन्न-भिन्न आसनों के आधार पर सिद्धि पाने के कारण है^१, किन्तु इस कथन के लिए वे कोई प्रमाण नहीं देते, न यह बात किसी उपलब्ध सामग्री के सहारे अभी तक सिद्ध ही की जा सकी है। इसी प्रकार कतिपय दूसरे लोगों का यह अनुमान भी कि यह संख्या प्रसिद्ध चौरासी लक्ष्य योनियों के कारण निश्चित की गई है, निराधार जान पड़ता है क्योंकि ये सिद्ध इन भिन्न-भिन्न योनियों की विशेष चर्चा करने में लगे हुए भी नहीं पाये जाते। अतएव, इनके चौरासी होने की परंपरा वस्तुतः किसी सांप्रदायिक आग्रह के कारण चल पड़ी हुई ही प्रतीत होती है। परंतु इसे कब और किस प्रकार निश्चित किया गया तथा

१. डॉ० मोहन सिंह : गोरखनाथ एवम् मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज़्म, साहौर, १९३७, पृ० २-३।

ऐसा करने वालों ने अपने सामने कौन सा मानदंड रखा, जैसे प्रश्न फिर भी उठने लगते हैं जिन पर विचार करने की चेष्टा करना कुछ कम महत्व पूर्ण नहीं है।

अनुमान किया गया है कि इन सिद्धों की चौरासी संख्या मुहम्मद विने बख्तियार खिलजी के आक्रमण-काल (सन् ११९६ ई०) के पहले ही पूरी हो चुकी होगी। श्री राहुल सांकृत्यायन ने तिब्बत में उपलब्ध सिद्धों की सूची में आने वाले कालपा को अंतिम वा चौरासिद्धों सिद्ध मान कर उनका समय ११ वीं शताब्दी के अंत से कुछ पूर्व का बतलाया है।^१ उनका कहना है कि ये सिद्ध कालपा मेसुकपा के शिष्य थे जिन्होंने स्वयं मैत्रीपा वा अष्टधूतीपा से दीक्षा ग्रहण की थी। इन मैत्रीपा को वे उस प्रसिद्ध दीपंकर श्री शान (सन् ६८२-१०५४ ई०) का भी विद्यागुरु होना मानते हैं जो ईसा की ११ वीं शताब्दी के आरंभ में वर्तमान थे। अतएव, चौरासी सिद्धों का युग उन्होंने आदि सिद्ध सरहपा के समय (लगभग सन् ७६६-८०६ ई०) से लेकर अधिक से अधिक सन् ११७५ ई० तक माना है। इसमें संदेह नहीं कि अनेक सिद्धों का आविर्भाव सिद्ध कालपा के अनंतर भी हुआ था, किन्तु प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों की संख्या उन्हीं के समय तक पूरी हो जाती जान पड़ती है। तिब्बत की उक्त तैजूर वाली सूची में चौरासी सिद्धों के नाम कालक्रम के अनुसार नहीं दिये गए हैं, न उसमें किसी गुरु-परंपरा विशेष का अनुसरण किया जाना ही सूचित होता है।

तिब्बत की उक्त सूची में आये हुए नामों का क्रम इस प्रकार है—

१. स्तूहिपा २. लीलापा ३. बिरुपा ४. डोम्भिपा ५. शर्बरीपा ६. सरहपा ७. कंकालीपा ८. मीनपा ९. गोरहपा १०. चोरंगिपा ११. बीणापा १२. शक्तिपा १३. तंतिपा १४. चमरिपा १५. खंगपा १६. नागार्जुन १७. कदहपा १८. कर्णारिपा १९. यमनपा २०. नारोपा २१.

शलिपा २२, तिलोपा २३, छत्रपा २४, भद्रपा २५, दोखंघिपा २६, अजोगिपा २७, कालपा २८, घोमिपा २९, कंकणपा ३०, कमरिपा ३१, बेंगिपा ३२, मदेपा ३३, तघेपा ३४, कुकुरिपा ३५, कुसुलिपा ३६, धर्मपा ३७, महीपा ३८, अचितिपा ३९, भलहपा ४०, नलिनपा ४१, भुसुकपा ४२, ईद्रभूति ४३, मेकोपा ४४, कुठालिपा ४५, कमरिपा ४६, आलंवरपा ४७, राहुलपा ४८, धर्मरिपा ४९, घोकरिपा ५०, मेदिनीपा ५१, पंकजपा ५२, घटापा ५३, जोगीपा ५४, सेलुकपा ५५, गुंवरिपा ५६, लुचिकपा ५७, निर्गुणपा ५८, जयानंत ५९, चर्पटीपा ६०, चंपकपा ६१, भिखनपा ६२, भलिपा ६३, कुमरिपा ६४, अव-रिपा ६५, मणिभद्रा ६६, मेखला ६७, कनखला ६८, कलकलपा ६९, कंतलिपा ७०, धट्टलिपा ७१, उधलिपा ७२, कमालिपा ७३, किलपा ७४, सागरपा ७५, सर्वभद्रपा ७६, नागबोधिपा ७७, दारिकपा ७८, पुट्टलिपा ७९, पनहपा ८०, कोकालिपा ८१, अनंगपा ८२, लक्ष्मीकरा ८३, समुद्रपा और ८४, भलिपा ।

इनमें से ६५ मणिभद्रा, ६६ मेखला, ६७ कनखला एवं ८२ लक्ष्मीकरा जियों के नाम हैं और इन्हें सिद्ध न कहकर 'योगिनी' की संज्ञा दी जाती है ।

इसी प्रकार चौरासी सिद्धों की एक अन्य तालिका ईसा की १४ वीं शताब्दी के प्रथम चरण में वर्तमान कवि शेखराचार्य ज्योतिरीश्वर की रचना 'वर्ण रत्नाकर' में भी पायी जाती है जिसके अंत में 'चउ-रासी सिद्धा' लिखते हुए भी उसके लेखक ने केवल ७६ ही नाम दिये हैं और शेष को किसी कारणवश छोड़ दिया है । 'वर्ण रत्नाकर' की सूची के नाम इस प्रकार आते हैं :—

१. मीननाथ २. गोरखनाथ ३. चौरंगीनाथ ४. चामरीनाथ ५.

तंतिपा ९. हलिपा ७. केदारिपा ८. दोगपा ६. दरिपा १०. विरूपा
११. कषाली १२. कमारी १३. कान्ह १४. कनखल १५. मेलल १६.
उन्मन १७. कान्तलि १८. घोबी १९. नासांधर २०. डोंगी २१. मवह
२२. नागार्जुन २३. दौली २४. मिषाल २५. अचिंति २६. चंपक २७.
वेणुदसर २८. मुसुरी २९. वाकलि ३०. तुजी ३१. चर्पटी ३२. मादे
३३. चांदन ३४. कामरि ३५. करवत ३६. धर्मपा पतंग ३७. भद्र ३८.
पातलिमद्र ३९. पलिहिह ४०. भाण्ड ४१. मीनो ४२. निर्दम ४३. सबर
४४. सांति ४५. भतुंहरि ४६. मीसन ४७. भरी ४८. गगणपा ४९.
गमार ५०. मेछुरा ५१. कुमारी ५२. जीवन ५३. अघोसाधर ५४.
गिरिवर ५५. सीयरी ५६. नागवलि ५७. × धिभरह ५८. सारंग ५९.
विविक्किधज ६०. मगरधज ६१. अचित ६२. विचित ६३. नेवक ६४.
चाटल ६५. नाचन ६६. भीलो ६७. पाहिल ६८. पासल ६९. कमल
कंगारि ७०. चिपिल ७१. गोविंद ७२. भीम ७३. मैरव ७४. भद्र ७५.
भामरी और ७६. भूषकुटी ।

इसमें ५० नाम ऐसे हैं जो उक्त प्रथम सूची में नहीं दीख पड़ते और शेष में से कई ऐसे हैं जो केवल थोड़े ही परिवर्तन के साथ उसमें आ चुके हैं । नामों का क्रम इस तालिका में भी किसी नियम के अनुसार दिया गया नहीं जान पड़ता । इसके २१ वें नाम 'मवह' को अनुमानतः सरह पढ़ा जाता है, किन्तु इसके ५८ वें नाम × धिभरह से [] भी पता नहीं चलता । स्व० हरप्रसाद शास्त्री ने इस दूसरे नाम को हस्तलिखित प्रति में 'विभवत' पढ़ा था और डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी यही माना है ।^१ किन्तु इस नाम के भी किसी सिद्ध का पता लगाना कठिन है । इसका मेछुरा नाम मयनाथती का भी हो सकता है ।

१. डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, प्रयाग, १९५० पृ० ३० ।

स्वात्मभाराम की 'हठयोग प्रदीपिका' में भी सिद्धों की एक सूची दी गई है और उन्हें 'मृत्यु को जीतकर ब्रह्मांड में विचरने वाला' कहा गया है। उस तालिका ॥ जो नाम गिनाये गए हैं वे इस प्रकार हैं।

१ आदिनाथ २ मत्स्येंद्र ॥ शाबर ४ आनंद भैरव ५ चौरंगी ६ मीन ७ गोरक्ष ८ विरुपाक्ष ९ बिलेश्वर १० मंधान ११ भैरव १२ सिद्धि १३ बुद्ध १४ कंयंक १५ कोरंटक १६ सुरार्णव १७ सिद्धपाद १८ चर्यटि १९ कानेरी २० पूज्यपाद २१ नित्यनाथ २२ निरंजन २३ कपाली २४ विदुनाथ २५ काकचंडी २६ अल्लाम २७ प्रभुदेव २८ षोकाचोली २९ टिटिणि ३० भानुकी ३१ नारदेव ३२ खंड और ३३ कापालिक ।

इसके अंत में 'इत्यादयो महासिद्धाः' कहकर छोड़ दिया गया है जिससे पता चलता है कि अन्य सिद्धों के नाम अभी देने को रह जाते हैं। फिर भी यहीं पर 'चौरासी जैसी संख्या दी गई नहीं दीख पड़ती, यद्यपि नाथ-पंथ के ही एक अन्य ग्रन्थ 'गोरक्ष सिद्धांत संग्रह' में 'चतुरशीति सिद्ध-गणना' का प्रसंग पाया जाता है^१। इस प्रकार जान पड़ता है कि यह संख्या कदाचित् नाथ-पंथियों को भी स्वीकृत रही होगी। इन ३३ नामों में से केवल १० ही ऐसे हैं जो प्रथम सूची में भी आये ॥ और शेष २३ इस दृष्टि से नवीन प्रतीत होते हैं। इसके सिवाय उक्त दूसरी सूची के नामों के साथ तुलना करने पर भी पता चलता है कि दोनों में केवल थोड़े से ही नाम एक समान हैं और शेष एक दूसरे के साथ मेल नहीं खाते।

सिद्धों के ऐसे नामों की एक तालिका प्रकाशित चर्यापदों के रचयिताओं के आधार पर भी बनायी जा सकती है। ऐसा करने पर पता चलता है कि ये नाम केवल २२ ही हैं और वे भी उन रचनाओं

१. हठ योग प्रदीपिका, बंबई, पृ० ६॥

॥ गोरक्ष सिद्धान्त संग्रह, बनारस, १९२५, पृ० २१ ।

के क्रमानुसार पाये जाते हैं। चर्यापदों की संख्या ५० दी जाती है और इसी कारण वे नाम अधिकतर एक से अधिक बार भी आ गए हैं। इस सूची के नामों का क्रम इस प्रकार है—

१ लुईपाद २ कुक्कुरीपाद ३ विरुवपाद ४ गुंढरीपाद ५ चाटि-
ल्लुवपाद ६ मुसुकपाद ७ कान्दपाद ८ कम्बलाम्बरपाद ९ डोम्नीपाद
१० शातिपाद ११ महीवरपाद १२ वीणापाद १३ सरहपाद १४ शशर
पाद १५ आर्यदेवपाद १६ टेण्डणपाद १७ दारिकापाद १८ भादेपाद
१९ नाकपाद २० कौक्कणपाद २१ जयनंदी और २२ चामपाद।

इन नामों ■ १३ ऐसे हैं जो उपर्युक्त प्रथम सूची में भी आते हैं और यदि आर्यदेव एवं कर्णारी, (सं० १८) चामपाद एवं धर्मपा (सं० ३६), महीवरपाद एवं महीपा (सं० ३७), जयनंदी एवं जयानंत (सं० ५६) तथा कम्बलाम्बरपाद एवं कमरिपा (सं० ३०) एक ही हों और नाकपाद भी कहीं नाकपा वा नारोपा समझ लिये जा सकें, जैसा कि श्री राहुल जी ने अनुमान किया है^१ तो दोनों सूचियों के १६ सिद्धों की एकता में कोई संदेह नहीं रह जाता और इस चौथी सूची के केवल तीन ही सिद्ध नवीन ठहरते हैं। गुप्तेन चारुण की सूची में भी केवल ३८ सिद्धों के ही नाम आते हैं जिस कारण वह भी अधूरा ही है फिर भी आज तक उपलब्ध प्रायः सारी सूचियों की तुलना कर लगभग १५० नामों का होना अनुमान किया जाता है जिनमें से कई एक वस्तुतः एक ही सिद्ध के जान पड़ते हैं, नामांतर बन गये हैं। इन्हें समुचित खोज के आधार पर निश्चित करके ही कोई प्रमाणिक सूची तैयार की जा सकती है।

इन उपर्युक्त चार सूचियों के अतिरिक्त अन्य कोई विस्तृत सूची

१. डॉ० प्रबोधचन्द्र दागधी : चर्यापद, कलकत्ता १९३८ ई०,

पृ० १०७-५५।

२. 'गङ्गा' (पुरातत्त्वाङ्क), पृ० २५८।

इस समय उपलब्ध नहीं जान पड़ती। नव नामों की भी कई भिन्न-भिन्न सूचियाँ बतलायी जाती हैं जिनमें सर्वसाधारण नाम केवल आदिनाथ, मत्स्येन्द्रनाथ, जालंधर नाथ और गोरक्षनाथ के ही आते हैं^१ और ये चारों नाम 'हठयोग प्रदीपिका' की सूची में दीख पड़ते हैं। इन सभी सूचियों की पारस्परिक तुलना करने पर पता चलता है कि इनमें केवल थोड़े से ही नाम एक समान हैं। शेष में से कुछ में न्यूनाधिक समानता है और कुछ नितांत भिन्न-भिन्न प्रतीत होते हैं। संभव है इन असमान नामों में से कुछ ऐसे भी निकल आएँ जो एक ही सिद्ध के लिए दो वा अधिक रूपों में प्रयुक्त होते आए हैं। इन सूचियों में से किसी में भी नामों का, काल-क्रमानुसार वा गुरुपरंपरा-नुसार संमिलित किया जाना विदित नहीं होता। तीसरी सूची में सर्व-प्रथम आये हुए 'आदिनाथ' शब्द से 'आदि सिद्ध' का भी बोध कराया जा सकता है। किन्तु इसे मान लेने के लिए कोई प्रामाणिक आधार नहीं है, न इससे यही सिद्ध किया जा सकता है कि आगे आने वाले सभी नाम भी उसी सिद्ध की परंपरा के हैं तथा क्रमानुसार भी हैं। इसके सिवाय स्वयं आदिनाथ के व्यक्तित्व के विषय में भी अनेक प्रकार के अनुमान किये जाते हैं। नाथ-पंथ वाले इसे शिव के लिए प्रयुक्त समझते जान पड़ते हैं।^२ यद्यपि उड़ीसा के कई ग्रन्थों में इसे मत्स्येन्द्र का नाम स्वीकार किया गया है^३ और डॉ० बक्ष्वाला तथा श्री राहुल जी ने इसे जालंधरनाथ का एक दूसरा नाम समझा है।^४

इसी प्रकार प्रथम सूची के अंतर्गत आये हुए प्रायः प्रत्येक नाम

१. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : नाथ संप्रदाय, प्रयाग, १९५०, पृ० २६।

२. हठयोग प्रदीपिका, बंभई, पृ० ८।

३. डॉ० पी० मुकर्जी : वैष्णवित्व इन उड़ीसा, कलकत्ता, १९४०, पृ० १५।

४. 'गङ्गा' (पुरातत्त्वाङ्क), पृ० २२० (पादटिप्पणी)।

के पीछे 'पा' शब्द जुड़ा हुआ दीख पड़ता है, जहाँ दूसरी में इसके प्रयोग बहुत ही ■■■ हैं और तीसरी में इसका कहीं पता नहीं चलता। दूसरी और तीसरी सूचियों में 'नाथ' शब्द कई उन्हीं नामों के आगे लगा हुआ पाया जाता है जिनमें प्रथम सूची के अनुसार 'पा' शब्द को कुछ लोग तिब्बती भाषा का मान कर उसका अर्थ 'वाला' किया करते हैं और कहते हैं कि यह विशेषकर उन सिद्धों के ■■■ नामों के आगे लगता है जो संयुक्तप्रान्त (उत्तर प्रदेश), बिहार, बंगाल, नेपाल, अथवा तिब्बत के निवासी थे और पंजाब, राजस्थान, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र तथा दक्षिणापथ के सिद्धों के नामों में अधिकतर 'नाथ' पाया जाता है।^१ परंतु इस प्रकार का अनुमान उपर्युक्त सूचियों के अनुसार भी निराधार जान पड़ता है। 'पा' शब्द संभवतः संस्कृत भाषा के 'पाद' शब्द का एक संक्षिप्त रूप ■■■ और अपने मूल शब्द की ही भाँति किसी नाम वाले को गौरव प्रदान करने के लिए प्रयुक्त हुआ है। 'नाथ' शब्द का साधारण अर्थ स्वामी होता है और उसका भी प्रयोग अधिकतर आदराय हुआ करता है। परंतु नाथ-सिद्धों की भाँति वायुवादी एवं मुद्रावादी इठयोगी, वज्रयानी तथा सङ्गयानी सिद्ध, रसेश्वर सिद्ध, दत्तात्रेय संप्रदाय के आचार्य महेश्वर और शैव तांत्रिक सिद्ध भी पूर्णत्व को ही अपना अभीष्ट मानते हैं। इन संप्रदायों के कई सिद्धों के नाम नाथांत पाये जाते हैं।^२ नाथ शब्द पूर्णत्व का परिचायक है। इस शब्द की ■■■

१. डॉ० मोहनसिंह : गोरक्षनाथ एवम् मेडीवल हिन्दू मिस्टिसिज्म, लाहौर, सन् १९२७, पृ० ४०-१।

२. त्रिपुरा संख 'निरयोस्तव टीका'—गायकवाड सीरीज २२ तथा प्राग्भट्ट कृत रसरत्न समुच्चय और कपिल गीता, पद्मपुराण, गोरक्ष सिद्धांत संग्रह, पृ० १०७

षट्शतभिव रहस्य' में ईश पदवाच्य ■ ।^१ राज गुह्यग्रन्थ में 'नाथ' शब्द में का 'ना' का अर्थ अनादि रूप और 'थ' का अर्थ स्थापित करना दिया गया मिलता है ।^२ फिर भी आगे चल कर 'नाथ' शब्द का प्रयोग इतर संप्रदायों में भी होने लगा । अतएव उक्त प्रकार के अनुमान की अपेक्षा इस प्रकार का परिणाम निकालना कहीं अधिक युक्तिसंगत हो सकता है कि 'पा' एवं 'नाथ'—दोनों ही—आदरसूचक शब्द ■ और इनमें से प्रथम का प्रयोग जहाँ तिब्बत वा उससे प्रभावित प्रदेशों में बनी सूचियों के निर्माताओं ने किया है, वहाँ दूसरे का व्यवहार विशेषतः वहाँ पर हुआ है, जहाँ की परंपरा तिब्बत से कई बातों में भिन्न थी । इसके सिवाय प्राचीन सिद्ध अधिकतर तांत्रिक बौद्धों की श्रेणी में गिने जाते थे और उनके नामों के अंत में तिब्बती परंपरा के प्रभावानुसार 'पा' शब्द लगा करता था । किन्तु नाथ-पर्य का प्रचार हो जाने पर पीछे 'नाथ' शब्द को विशेष महत्व मिल गया जो इन सूचियों के प्राप्ति-स्थानों से भी प्रमाणित होता है । चौथी सूची में तो सभी पर्या-कवियों के अंत में 'पाद' शब्द ही लगा पाया जाता है ।

उपर्युक्त सूचियों की पारस्परिक तुलना करने पर एक यह परिणाम भी निकाला जा सकता है कि चौरासी सिद्धों की संख्या किसी सर्वमान्य आधार पर नहीं प्रस्तुत की गई होगी, न उनमें आने वाले सभी नाम कभी सर्व-स्वीकृत समझे जाते रहे होंगे । उकीसा-की परंपरा सिद्धों की संख्या केवल ६४ ही स्वीकार करती है और उनमें प्रमुख सिद्ध गोरखनाथ माने जाते हैं ।^३ डॉ० सागची का कहना है

१. गोरख सिद्धांत संग्रह ■ शक्ति संगम तंत्र, पृ० १५७ ।

२. नाथान्तो नाम देशानि...आदि ।—गोरख सिद्धांत संग्रह, पृ० १५७ पर उद्धृत ।

३. डॉ० पी० सुकर्जी : मेडीवल वैक्सविजम इन् उकीसा कलकत्ता, १९४०, पृ० ५८-५९ ।

कि सिद्धों की संख्या पहले चौरासी नहीं रही होगी। यह पीछे, किसी सांप्रदायिक रहस्य के कारण किसी अन्य संख्या को बढ़ाकर निश्चित कर दी गई है।^१ जान पड़ता है कि ८४ की संख्या, सर्वप्रथम, तिब्बत में स्वीकृत की गई थी, जहाँ पर इन सिद्धों की एक चित्रावली भी मिलती है और उसके अंतर्गत केवल उन्हीं के नाम संमिलित किये गए हैं जिन्हें वहाँ के लोगों ने उस कोटि में आने योग्य माना था। हो सकता है कि इस ८४ की संख्या का भी कोई सांप्रदायिक रहस्य रहा हो और वह उसी प्रकार प्रसिद्ध हो चली हो जैसे २४ तीर्थंकर, नवनाथ, वावन वीर, चौसठ योगिनी आदि में लगकर भिन्न-भिन्न संख्याएँ चल पड़ी हैं। तिब्बत से आरंभ होकर चौरासी सिद्धों की परंपरा फिर क्रमशः अन्य स्थानों तक भी पहुँच गई, किन्तु उनके विषय में कोई निश्चित परिचय न पा सकने के कारण, पीछे दूर-दूर के लोगों ने इस बड़ी संख्या के नामों में मनमाने फेरफार भी करना आरंभ कर दिया। कहते हैं कि इन सिद्धों की एक सूची जाना द्वीप भी मिलती है, किन्तु उनके नाम, संख्या वा क्रम का हमें कुछ पता नहीं है। सिद्धों की उपलब्ध चित्रावली में जो उसका क्रम दिया हुआ है वही क्रम उनकी उक्त प्रथम सूची में भी पाया जाता है और उसी को प्रामाणिक मानकर लोगों ने लुईपा को आदि सिद्ध भी समझ लिया है। परंतु इस बात का समर्थन किसी अन्य प्रकार से नहीं होता, यद्यपि इसका उल्लेख तिब्बत में कुछ ग्रन्थों में भी दीख पड़ता है और इसकी पुष्टि जावा की सूची से भी हो जाती है।

चौरासी सिद्धों का कोई एक वंश-वृक्ष भी पृथक् उपलब्ध नहीं है। तिब्बत के तेरुंग नामक मठ से कोई प्रस्तावली छपी है जिसका शीर्षक 'संस्कृत मठ प्रश्न' है और जिसमें सत्य विहार के प्राँच प्रधान शुद्धों (सन १००९-११७९ ई०) की रचनाएँ संक्षेपित हैं। श्री राहुल

जो ने अधिकतर उसी के सहारे सिद्धों का एक वंश-वृक्ष तैयार किया है जिससे पता चलता है कि सिद्ध सरहपा से लेकर सिद्ध नारोपा तक इनकी एक ही परंपरा रही होगी और वह बीच से नामों का समावेश करके पूरी की जा सकती है। श्री राहुलजी ने इसके लिए स्वयं भी प्रयत्न किया है और उसमें कहीं-कहीं कुछ अनूदित नामों के मूल रूप भी दे दिये हैं। उक्त ग्रन्थावली में संग्रहीत महंतराज कण्ठ सुप, (सन् १२५३-१२७६ ई०) की एक रचना के पृष्ठ '६५' क' पर सरहपाद से लेकर नारोपा तक की परंपरा इस प्रकार दी गई है—१ [महा ब्राह्मण सरह], २ [नागार्जुन], ३ [शबरपा], ४ छूईपा, ५ [दारिकपा], ६ [वज्रवर्मापा], ७ [कुम्भपाद], ८ [जालंधरपा], ९ [कण्हचर्यपा], १० [गुह्यपा], ११ [विजयपा], १२ [तिलोपा] और १३ [नारोपा]। इसके नाम अनूदित हैं।^१ श्री राहुलजी ने चौरासी सिद्धों का एक बड़ा वंश-वृक्ष अलग भी दिया है जिसमें आये हुए ६० से भी अधिक नामों में से केवल ५०-५१ ही ऐसे हैं जो उपर्युक्त चित्रावली में भी पड़ते हैं। शेष के उसमें स्थान नहीं मिलते जिससे प्रकट होता है कि उसमें केवल सरहपा की ही शिष्य-परंपरा के नाम आये हैं। इस कारण संभव है कि वे अन्य नाम किसी दूसरे वर्ग वा वर्गों से सम्बंध रखते हों। श्री राहुलजी का कहना है कि “इन छूटे छुओं में सरह के वंश से पृथक् का कोई नहीं मालूम होता; इसलिए सरह ही चौरासी सिद्धों का प्रथम पुरुष है।”^२ परंतु अपने इस अनुमान के लिए उन्होंने किसी निश्चित आधार को और संकेत नहीं किया है। अतएव, उक्त चित्रावली के चौरासी सिद्धों में ■ सभी का प्रामाणिक वंश-वृक्ष न होने के कारण वह भी अधूरा ही कहा जा ■ है। उसका महत्व इस बात में

१. 'गङ्गा' (पुरातत्त्विक), पृ० २२०

२. वही, पृ० २२४।

अवश्य हो सकता है कि उसके द्वारा सिद्धों की संख्या चौरासी से अधिक स्पष्ट रूप में प्रमाणित हो जाती है।

सरहपा के, चौरासी सिद्धों में सर्व प्रथम होने का एक, अन्य प्रमाण हमें कालीन्दव-सम्बुद द्वारा लिखी गई 'चक्रसंवर' ग्रन्थ की भूमिका में मिलता है जिसमें उन्होंने सरहपा को सर्वोच्च स्थान दिया है। इस सूची को श्री विनयतोष महाचार्य ने अपने 'बुद्धिष्ट एसोटरिकम' ग्रन्थ में उद्धृत किया है^१ और वह श्री राहुल के उपर्युक्त प्रथम वंश-वृक्ष से मिलती-जुलती है। दोनों में अंतर केवल दो एक नामों के सम्बंध में प्रतीत होता है। मुख्य अंतर इस बात का ही है कि लूईपा के अनंतर, काली की सूची में, दारिकपा का नाम नहीं आता और विजयपा के पीछे भी किसी छूटे हुए नाम का स्थान-निर्देश करके फिर सिद्ध तेलोपा का नाम दे दिया गया है। दारिकपा को श्री विनय बाबू किसी मिल वंश-वृक्ष में स्थान देते हैं और उन्हें लूईपा की जगह लीलावज्र का शिष्य स्वीकार करते हैं।^२ परंतु दारिकपा ने, अपनी एक चर्चा में लूईपा के प्रति भद्रा प्रकट करते हुए, स्पष्ट शब्दों में कहा है, "मुक्त दारिकपा ने लूईपा के चरणों की कृपा से द्वादश भुवनों को प्राप्त कर लिया है"^३ जिससे विदित होता है कि वे लूईपा के ही शिष्य थे। फिर भी श्री विनय बाबू का कहना है कि इस पंक्ति द्वारा दारिकपा लूईपा को केवल उनके आदि सिद्ध होने के नाते संमानित करते हैं, किन्तु यह ठीक नहीं है। दारिकपा के 'लूईपाभरण' के 'पण' अर्थात् पदेन = 'चरण द्वारा' से

१. डॉ० बी० महाचार्य : पन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटरिकम, मैसूर, १९३२, पृ० ६३।

२. डॉ० महाचार्य : पन इंट्रोडक्शन टु बुद्धिष्ट एसोटरिकम, मैसूर १९३२, पृ० ६२।

३. लूईपाभरण द्वादश भुवने लाभा—चर्चा ३४, पृ० १४०।

उनके प्रत्यक्ष संपर्क में आना सूचित होता है। इसके सिवाय इस बात के लिए भी कोई आधार नहीं कि दारिक के समय तक लूई आदि सिद्ध कहलाने लगे थे। लूईपा का आदि सिद्ध कहलाना, संभवतः, उस काल से आरंभ हुआ था जब चौरासी सिद्धों की चित्रावली का निर्माण हुआ और उन चौरासी सिद्धों में भी किसी साम्प्रदायिक आग्रह के कारण, लूईपा को सर्वप्रथम स्थान दिया गया, अन्यथा अधिक प्रमाण इस बात के लिए ही मिलते हैं कि सरहपा लूईपा से कुछ पहले अवश्य हो चुके थे और वे ही आदि सिद्ध भी थे।

सिद्धों की संख्या को चौरासी तक ही सीमित और प्रमाणित करने में उपर्युक्त चित्रावली को बहुत बड़ा सहत्व दिया जा सकता है। उससे अन्यत्र सिद्धों के चौरासी नामों की कोई प्रामाणिक तालिका भी उपलब्ध नहीं है। तिब्बतीय ग्रन्थों के आधार पर जो वंश-वृक्ष प्रस्तुत किये जाते हैं उनमें से किसी में भी सभी चौरासी नामों का पता नहीं चलता। ऐसे वंश-वृक्षों में, स्वभावतः, ऐसे अन्य मानों का भी समावेश कर लिया जाता है जिन्हें चौरासी सिद्धों में कोई स्थान नहीं मिला है। चौरासी सिद्धों के सम्बंध में जो सूचियाँ तिब्बत के भिन्न प्रदेशों में निर्मित हुई हैं उनमें भी अन्य नाम संमिलित हो गए हैं। वे नाम अधिकतर उन लोगों के जान पड़ते हैं जो, बौद्ध वा वज्रयानी सिद्ध न होकर, वस्तुतः नाय-पंथ में प्रसिद्ध हैं। इस चित्रावली की एक विशेषता भी जान पड़ती है कि इसमें दिये गए चित्रों में से प्रत्येक में कुछ न-कुछ अपूर्वता लक्षित होती है। उदाहरण के लिए कुछ चित्रों में, उनके सिद्धों के नामानुसार, शर का (सरहपा), बीणा (बीणापा), खड्ग (खड्गपा), कुत्ता (कुक्कुरीपा), कमल नाग (नलिनपा), कुठार (कुठालिपा), चंपा (चंपकपा), पुतली (पुतलीपा), और जूता (पनहपा) आंकित किये गये हैं तो किसी-किसी में, उनके सिद्धों की जीविका के अनुसार, कपड़ा धोना (धोमिपा), जूता बनाना (चमरीपा), हल चलाना (मेदिनीपा),

चिड़िया पकड़ना (गुंडरीपा), गाय चराना (चर्पटी), मिट्टी के बर्तन बनाना (कुमरीपा) तथा भील मांगना (थिलनपा) दिखलाया गया है । इसी प्रकार कुछ चित्रों में जहाँ इन सिद्धों को उप-देशकों के रूप में प्रदर्शित किया गया है (जैसे छत्रपा, भद्रपा, धर्मपा आदि) वहाँ कुछ में इन्हें शासक वा राजा के वेश में चित्रित किया गया है (जैसे कमरिपा, इंद्रभूति, आदि) । चित्रों में इन सिद्धों की वेश-भूषा के अनुसार भी बहुत अंतर लक्षित होता है और उससे प्रतीत होता है कि वे भिन्न-भिन्न स्थानों के निवासी रहे होंगे । इंद्रभूति जैसे राजा को जहाँ मुकुट पहनाया गया है वहाँ कयोरी, धर्म और भुसुक के चिह्नों पर कनटोप जैसी टोपी रखी है और वीणापा, कमरिपा, अश्विनि, चर्पटी और भलि के चिह्नों में पगड़ी बाँधी गई है । खुले सिर वालों ■ से अभिरक्षा लोग अपने बालों को समेट कर बाँधि हुए दीख पकते हैं (जैसे लुईपा, कंकालीपा, शलिपा, भद्रपा, मेदिनीपा, पंकजपा, आदि); किन्तु कुछ लोगों के बाल योंही खुले हुए मो जान पकते हैं (जैसे मीनपा, चोम्मिपा, भरेपा, गुंडरीपा, आदि) । इसके सिवाय जहाँ पर इन्हें शासकों के रूप में प्रदर्शित किया गया है, वहाँ भी ये एक ही प्रकार की सावना में लगे नहीं दीखते । गोरक्षपा, कालपा, भलहपा जैसे सिद्धों को जहाँ हाथों की सज्जकरण मुद्राओं के साथ दिखलाया गया है, वहाँ कंकणपा, आलंघरपा, राहुलपा, बंदापा और अन्नगपा अपने-अपने आसनों में दीखते हैं । भलिपा एक ■ से ढँगे हुए जान पकते हैं । भहुलिपा अपना एक पैर बाँधि हुए है, शशिभद्रा और उकलिपा का उज्जना दीख पकता है, जयानंद मन्नानंदी ■ प्रतीत होते हैं और मेखला योगिनी, क्षिप्रामस्ता देवी की भौंति, अपने दाहिने हाथ में तलवार एवं बाँध में अपने ही अंग के साथ चित्रित की गई है । इसी प्रकार लुईपा का मछली की अंतर्ही खाना, चोम्मिपा का व्याघ्र के ऊपर सवार होकर सर्प से परितोषित होता, नामार्जुन का सर्पों से घिरा रहना,

नारोपा एवं तेलोपा का शव को पीठ पर लिये रहना जैसी बातें भी विभिन्न साधनाओं को ही सूचित करती हैं। इस चित्रावली में मिलपा एक शूरवीर की भाँति ढोल और तलवार लेकर लड़ने में प्रवृत्त जान पड़ते हैं। परंतु धर्मरिपा मृदंग बजाने में हैं और अजोगिपा को देखने से प्रतीत होता कि उन्हें तकिया लगा कर लेटे रहना ही अधिक पसंद है। इस प्रकार का अनुमान इधर डोम्बी (प्राचीन दर्भावती-गुजरात) में उपलब्ध कतिपय शिल्प-मूर्तियों के आधार पर भी किया गया है। उनसे परिणाम निकालने की चेष्टा की गई है कि अमुक आकृति आदिनाथ की अमुक मत्स्येन्द्रनाथ को तथा अन्य भी इसी प्रकार अमुक नाथ सिद्धों की हो सकती है, परंतु इसके लिए अभी यथेष्ट प्रमाणों की कमी है।^१

उपयुक्त चित्रों में अनेक ऐसी बातें भरी पड़ी हैं जिनके आधार पर उनके विषय में कुछ न कुछ अनुमान किया जा सकता है। फिर भी इनसे उनके भिन्न-भिन्न संप्रदायों के सम्बंध में यथोचित प्रकाश पड़ता नहीं जान पड़ता। लामा तारानाथ की एक पुस्तक से पता चलता है कि सरहपा, नागाधुन, शबरी, लुई, डोम्बी, नरोपा और तेलोपा महामुद्रा के प्रभाव द्वारा अनुप्राणित थे, विरुपा, डोम्बी हेसक जैसे सिद्ध चण्डिका की किसी साधना से प्रभावित थे और इंद्रभूति, अनंगवज्र, आदि कर्म-मुद्रा के साधक थे। इसी प्रकार मण्डपा, वीणापा, कंबल, जालघर आदि प्रखर किरणों के उपासक थे और गोरखनाथ आदि भी भिन्न-भिन्न प्रकार के बगों वा संप्रदायों में रखे जा सकते हैं। परंतु इस को उक्त चित्रावली द्वारा भी प्रमाणित करना कठिन है। इस प्रकार का वर्गीकरण संभवतः उन महान् सिद्धाचार्यों की साधना विशेष पर निर्भर था जिनके अनुगामी अन्य सिद्ध हो जाया करते थे। प्रो० दुरी ने इस परंपरा के अस्तित्व

की ओर संकेत करते हुए एक छोटे से पुराने हस्तलेख को भी प्रकाशित किया है और उसे अपने निबंध 'ए संस्कृत बायमाफ्री ऑब् दि सिद्धा' में स्थान दिया है।^१ उससे भी इस विषय पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। उस हस्तलेख से पता चलता है कि कई सिद्ध किसी एक ही व्यक्ति के भिन्न-भिन्न अवतार मान लिये जाते थे। इसके उदाहरण में नागार्जुन का नाम लिया जा सकता है जो दूसरे जन्म में दामोदर कहला कर प्रसिद्ध हुए थे। वे ही फिर अद्वयवज्र भी हो गए थे और उन्हीं को इस हस्तलेख में अन्यत्र खमति नाम दिया गया मिलता है तथा फिर वे नागार्जुन भी कहलाते हैं।^२

एक दूसरी बात जो उक्त हस्तलेख से प्रकट होती है वह यह है कि एक ही सिद्ध किसी भिन्न संप्रदाय में दीक्षित हो जाने पर उसके अनुसार कोई नवीन उपाधि का नाम ग्रहण कर लेता था और इस प्रकार क्रमशः कई वर्षों में संमिलित हो जाने से अनेक नामों द्वारा अभिहित किया जा सकता था जिसका एक स्पष्ट उदाहरण उपर्युक्त दामोदर के ही सम्बंध में मिल जाता है। कहते हैं कि दामोदर ने जब अपना 'सम्मिलीय निकाय' का अध्ययन समाप्त किया तो वे मैत्रीगुप्त कहे जाने लगे, किन्तु पीछे जब उन्हें वज्रयोगिनी का प्रत्यक्ष अनुभव हो गया तो वे ही अद्वयवज्र भी बन गए जैसा कि उनके द्वारा निर्मित ग्रन्थों से भी प्रकट होता है। प्रो० तुशी का अनुमान है कि सिद्ध लोग जब कभी नवीन 'अभिषेक' (दीक्षा) ग्रहण करते थे अथवा किसी संप्रदाय में प्रवेश करते थे तो वे भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाने लगते थे। इस प्रथा का अस्तित्व तिब्बत के मठों में आज तक भी पाया जाता है। उनके ये नाम आरंभ में उनके द्वारा प्राप्त की गई

१. जर्नल ऑब् दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ् बेंगाल,

वि० २६, अंक १, १८३०, पृ० १३८-५५।

२. वही, पृ० १४६-५०।

किसी स्थिति विशेष के प्रतीक माने जाते थे। किन्तु फिर के बहुधा व्यक्तिगत से भी हो जाते थे।^१ इस प्रकार के नामों की गड़बड़ों का एक परिणाम यह हुआ है कि अनेक महायानी ग्रन्थ जो वस्तुतः आधुनिक वा कम से कम बहुत पीछे के लोगों की रचनाएँ हैं, नाम-साग्य के कारण प्राचीन आचार्यों के नाम से प्रचलित हो गए हैं। इसका एक दूसरा प्रभाव इन सिद्धों के संप्रदायानुसार वर्गीकरण करते समय भी पड़ता प्रतीत होता है। कई व्यक्तियों के नागार्जुन नामधारी होने के कारण सिद्ध नागार्जुन को हम कभी तांत्रिक समझते हैं और कभी प्रसिद्ध दार्शनिक के रूप में देखने लगते हैं तथा कभी-कभी नामसाम्य के कारण नागबोधितक मानने लगते हैं। सरहपा के राहुल कहलाने, कश्यप के आर्यदेव बन जाने तथा मुमुक्षुपा के शक्तिदेव होने आदि में भी इस बात के उदाहरण पाये जा सकते हैं।

डॉ० हरप्रसाद शास्त्री ने अपने संपादित 'बौद्ध गान ओ दोहा' की भूमिका में लिखा है^२ कि "सिद्धों के सहज संप्रदाय में तीन मार्ग प्रचलित थे उनमें से एक का नाम 'अवधूती' या जिसका सम्बंध द्वैत ज्ञान से था, दूसरा 'चाण्डाली' या जिसे भी एक प्रकार से द्वैतवादी कह सकते हैं; किन्तु तीसरा जो 'ओम्नी' कहलाता था वह अद्वैत ज्ञान परक था।" परंतु यह वर्गीकरण दार्शनिक आधार पर किया गया ज्ञान पड़ता है जो सदा केवल साधनाओं में ही प्रवृत्त रहने वाले सिद्धों के विषय में उतना उपयुक्त नहीं कहा जा सकता। सिद्धों का अधिक युक्तिसंगत वर्गीकरण उनकी सांप्रदायिक विचार-धारा अथवा विभिन्न साधनाओं के अनुसार ही किया जा सकता है। उनकी अपनी विशेषताएँ उनके कोरे चिंतन में लब्धित न होकर उनकी चर्चाओं में दीख पड़ती थी। इस प्रकार स्थूल रूप से देखने

पर हमें सर्वप्रथम उनके केवल दो ही वर्गों ज्ञान पत्रते हैं जिनमें से एक उन लोगों का समूह ■ जो पीछे चलकर नाथ-पंथ में भी आचार्य माने गए और दूसरा उनका है जिन का सम्बंध मूल सहजयान से ही रह गया। कुछ लोगों की धारणा है कि चौरासी सिद्धों में कतिपय जैन-साधक भी संमिलित होंगे, किन्तु इसके लिए कोई आधार नहीं बतलाया जाता। जैन धर्म के कई अनुयायियों को 'सिद्ध' की उपाधि बहुधा दे दी जाती रही ■ और यह ठीक भी कहा जा सकता है, किन्तु इस बात ■ यह परिणाम भी निकाल लेना कि उनमें से कुछ प्रसिद्ध चौरासी सिद्धों में भी संमिलित रहे होंगे भ्रांतिपूर्ण है। उक्त दो वर्गों में से दूसरे वालों की संख्या अधिक है और उनमें भी विविध आश्रमाय वा उप-संप्रदाय बनते चले गये हैं। उदाहरण के लिए जिन सिद्धों की प्रवृत्ति हेवज्जतंत्र की ओर बनी रही वे, एक वर्ग विशेष में गिने जाने लगे, जो युगनन्द हेरुक के उपासक थे वे एक भिन्न वर्ग में संमिलित किये गए और उसी प्रकार वज्रहाकिनी, वज्रयोगिनी और महामाया के उपासक भी पृथक्-पृथक् समझे जाने लगे। कालचक्र-यान के साथ जिन सिद्धों का संपर्क था वे, इसी के अनुसार एक भिन्न समुदाय की श्रेणी में आ गए और ऐसे आचार्यों पर विभाजन हो जाने पर केवल ■ ही ऐसे बच गए जिन्हें, हम शुद्ध सहजयान के अनुयायी कह सकते हैं। फिर भी इस ढंग का वर्गीकरण कभी पूर्ण और प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। एक वर्ग के सिद्ध का किसी दूसरे वर्ग वालों के प्रभाव में आ जाना, कदाचित्, किसी समय भी नहीं सका और ऐसे परिवर्तन निरंतर होते चले गए। किन्तु उपर्युक्त शुरु-प्रणाली अथवा तांत्रिक साधना की विशेषताएँ सदा मौजूद होकर ही रही और उनका प्रभाव सभी सिद्धों पर स्थायी रूप से नहीं पड़ सका।

जैन संप्रदाय

बौद्ध धर्म का जैन संप्रदाय आजकल चीन देश में और विशेषतः जापान में प्रचलित है। इसका 'जैन' शब्द ही जापानी भाषा का है। जिसका चीनी पर्याय 'शान' (चान) है और कहा जाता कि यह वस्तुतः उस चीनी शब्द 'जोला' वा 'शाघ्रा' (चाघ्रा) का एक संक्षिप्त रूप है जो संस्कृत भाषा के 'ध्यान' शब्द वा पालि के 'माया' का रूपांतर है। ध्यान की प्रक्रिया, योग-सूत्रों के अनुसार, किसी एक विषय के साथ बद्ध से बन गए हमारे चित्त की एकतानता सूचित करती है। धारणा द्वारा अधिक प्रगाढ़ एवं प्रबल हो वह, इसके परिणामस्वरूप, क्रमशः विशेष व्यापक भी बनने लग जाता है और उसमें ध्येय वस्तु का स्वरूप ग्रहण करने तथा साथ ही सदाकार बनते जाने की क्षमता आ जाती है।^१ साधना की दृष्टि से किथा गया 'ध्यान' शब्द का प्रयोग औपनिषदिक साहित्य में भी पाया जाता है। वहाँ कदाचित् वैसी प्राचीनतम रचनाओं में तो नहीं, किन्तु 'श्वेताश्वतर' 'मैत्रायणी' एवं 'योगोपनिषद्' समझी जाने वाली कई एक में इसकी ओर स्पष्ट संकेत मिलता है।^२ कतिपय प्राचीन बौद्ध ग्रन्थों से पता चलता है कि स्वयं गौतम बुद्ध ने भी ध्यान की साधना की थी और भिक्षुओं को उपदेश देते — उन्होंने ने इस की चार प्रक्रियाएँ अर्थात् क्रमशः 'वितर्क', 'विचार', 'सुख' तथा 'उपेक्षा' की भी चर्चा की थी।^३ फिर भी जैन संप्रदाय का जैन वा ध्यान कुछ अपनी विशेषताएँ रखता है और वह कई बातों में विलक्षण प्रतीत होता है।

१. योगदर्शन (विभूतिपाद्, सूत्र-१३)

२. श्वेताश्वतर (अ० १-२) तथा योगोपनिषद् संग्रह (अध्याय लायब्रेरी, मद्रास)

३. अंगुत्तर, (८, १, २, १) और मग्गिम निकाय।

जैन संप्रदाय वालों में प्रचलित अनुश्रुतियों के अनुसार उसके आरंभ का इतिहास स्वयं शाक्य मुनि के ही साथ जुड़ा हुआ है। कहते हैं कि एक समय जब वे गृध्रकूट पर्वत पर बैठे भिक्षुओं के सामने प्रवचन दे रहे थे, किसी 'ब्रह्मराज' ने आकर उन्हें सुनइले फूलों का कोई गुच्छा भेंट किया जिसे उन्होंने अपने हाथ में लेकर ऊपर उठाया और मौन-भाव में ही उसकी ओर मंदे ध्यान से देखा। इस बात के वास्तविक रहस्य को वहाँ के उपस्थित लोगों में से कदाचित् कोई भी व्यक्ति नहीं समझ पाया। केवल उनके पट्टशिष्य महा-कस्सप ने इस पर धीरे से मुस्करा दिया जिस कारण शाक्य मुनि ने उनसे कह दिया, "मैं तुम्हें आज अपनी अनमोल आध्यात्मिक निधि सौंपता हूँ" और जैन संप्रदाय के अनुयायियों का विश्वास है, कि इस घटना द्वारा उनके मत का गूढ़तम आशय प्रकट हो गया। किन्तु आश्चर्य की बात है कि भारतीय बौद्ध परंपरा ऐसी किसी घटना का संकेत करती कहीं भी नहीं पायी जाती और चीन देश में भी इसकी चर्चा सर्वप्रथम केवल उस धार्मिक इतिहास में ही मिलती है जिसकी रचना सन् १०२६ ई० में हुई थी। सन् १००४ ई० में लिखे गए ऐसे प्रसिद्ध ग्रन्थों में इसका पता नहीं चलता, इसका कहीं कोई प्रासंगिक उल्लेख तक पाया जाता है। फिर भी अनुमान किया जाता है कि ऐसी कथाओं का प्रचार संभवतः काल से ही आरंभ हो गया होगा जब ईसा की आठवीं शताब्दी तक जैन संप्रदाय, चीन देश के अंतर्गत, पूर्णरूप से प्रतिष्ठित हो चुका था।^१

इस संप्रदाय के मत को चीन देश में सर्वप्रथम प्रचलित करने का श्रेय बोधिर्म को दिया जाता है जो वहाँ सन् ५२० वा ५२६ ई० में

गये थे। बोधिधर्म एक भारतीय भिक्षु थे जिन्हें साधारणतः चीन देश में 'तामो' तथा जापान में 'दाक्मा' कहते हैं और ये शब्द 'धर्म' के सूचक हैं। वहाँ के चित्रों में इन्हें बहुधा एक ऐसे व्यक्ति के रूप में दिखाया जाता है जिसे दाढ़ी है और जिसके कंधे पर ढंडे से एक खड़ाऊँ लटक रही है। इनके लिए प्रसिद्ध है कि ये दक्षिण भारत के कांची वा कांचीवरम नगर के किसी राजा के लड़के थे। ये वहाँ से यात्रा में निकलकर पहले दक्षिण सागर के टापुओं, संभवतः इन्दोनेशिया, की ओर गए और वहाँ बौद्ध धर्म के 'ध्यान' संमदाय में दीक्षित हो गए। इन्हें उधर इतनी प्रतिष्ठा मिल गई कि ये स्वयं शाक्य मुनि के भी उत्तरीय तथा भिक्षापात्र ग्रहण करने के योग्य समझे जाने लगे और इन्हें, इसी के आधार पर, उनकी आचार्य-परंपरा का २८ वाँ कुलपति तक स्वीकार कर लिया गया। वहाँ से ये फिर समुद्री यात्रा करते हुए उत्तर की ओर चले और दक्षिणी चीन के कैंटन में पहुँच कर वहाँ उतर गये।

चीन देश में उपलब्ध इतिवृत्तों से पता चलता है कि बोधिधर्म का वहाँ के सम्राट् 'वु' ने अच्छा स्वागत किया। उन्होंने इनसे आदरपूर्वक प्रश्न किये जिनके उत्तर इन्होंने विचित्र ढंग से दिये। जब उन्होंने पूछा, "गद्दी पर बैठने के [] से आज तक मैंने कई बौद्ध मंदिर बनवाये हैं, भिक्षुओं-भिक्षुणियों को सहायता की है और धर्म-ग्रन्थों की प्रतिलिपि तक पूरी की है, कहिए मैंने इन सत्कार्यों द्वारा कितने पुण्य का अर्जन किया होगा?" तो इसके उत्तर में बोधिधर्म ने उन्हें बतलाया कि "कुछ भी नहीं, यह सब कुछ व्यर्थ है।" और, इसी प्रकार, उनके यह पूछने पर कि "बौद्ध धर्म का मूल क्या है?" इन्होंने उनसे "शून्यमात्र" कह दिया। यहाँ तक कि सम्राट् के यह पूछने पर भी कि "मुझे इस प्रकार के उत्तर कौन दे रहा है?" इन्होंने स्पष्ट कह दिया कि "मुझे पता नहीं।" इस महापुरुष के विषय में यह भी कहा जाता है कि पीछे एक बार जब इनके किसी

आर्च शिष्या ने इनसे प्रार्थना की कि “कृपया मेरे चित्त में शांति ला दीजिए” तो वे उस प्रार्थी से, जो इनके समक्ष केवल पहुँच पाने तक के लिए सात दिन तक बर्फीले मैदान में प्रतीक्षा कर चुका था, उत्तर पृष्ठ बैठे कि “तुम पहले अपना चित्त मेरे सामने क्यों नहीं रखते ?” और जब उसने बतलाया कि “मैं गत कई वर्षों से उसे पा सकने में असमर्थ हूँ।” तो उन्होंने उस से कहा कि “ठीक है, अब तुम्हारा चित्त सदा के लिए शांत हो गया”। कहते हैं कि इस उत्तर द्वारा उसे पूर्ण बोध हो गया और बोधिधर्म ने फिर उसके नाम को भी ‘कुश्रंग’ से बदल कर ‘हुइके’ करा दिया।

कहते हैं कि हुइके ही आगे चल कर, बोधिधर्म के पश्चात् जैन संप्रदाय का द्वितीय कुलपति स्वीकृत हुआ। वह एक बहुत बका विद्वान्, किन्तु विनम्र व्यक्ति था और वह अत्यंत साधारण वेश में ही रहकर अपने सिद्धांतों का प्रचार किया करता था। साधारण जनता के बीच प्रवचन देते समय, वह किसी दिन पकड़ लिया गया और मठ के पुजारियों ने उसे प्राणदंड दिला दिया। हुइके के अनंतर होने वाले चौथे कुलपति ताओसिन (सन् ५८०-८१) के समय जैन संप्रदाय के अंतर्गत दो उप-संप्रदायों की सृष्टि हो गई जिनमें से एक तो अपने संस्थापक कार्जुंग की मृत्यु के अनंतर बहुत दिनों तक नहीं चल सका, किन्तु दूसरा, जिसकी स्थापना हुंगजेन ने की थी और जिस के अनुयायी हुइनेंग के समय से इस मत के रूप में विशेष परिवर्तन हो गए, आज तक प्रतिष्ठित है। हुंगजेन जैन संप्रदाय के पाँचवें कुलपति कहे जाते हैं और उनके समय तक इसके अनुयायियों की संख्या बहुत कुछ बढ़ चुकी थी। उनके एक शिष्य ने, जिस का नाम जियु था और जो एक प्रकांड विद्वान् भी था, एक दिन मठ की बाहरी दीवार पर एक पद लिख दिया जिसका आशय यह था—

“यह शरीर बोधि वृक्ष है, आत्मा उज्ज्वल दर्पण के समान है,

उसे सर्वदा स्वच्छ रखने की चेष्टा करो और उस पर किसी प्रकार की धूल न जमा होने दो ।”

जिस किसी ने इसे पढ़ा वह इस से अत्यंत प्रभावित हुआ और उसने इसके रचयिता की भूरि-भूरि प्रशंसा की । परंतु दूसरे ही दिन उक्त पद्य के पास एक ग्रन्थ भी लिखा हुआ पाया गया जिसका आशय इस प्रकार था—

“यह शरीर बोधि वृद्ध के समान नहीं है और न उज्ज्वल; दर्पण कहीं प्रकाशित ही हो रहा है । जब पहले से ही कुछ भी विद्यमान नहीं था तो धूल कहीं पर जमा हो सकती है ।”

इसे पढ़ कर लोग अत्यंत चकित हो गए । इस दूसरे पद्य का रचयिता हुइनेंग या जो एक साधारण किसान था और जो संभवतः कुछ पढ़ा-लिखा भी नहीं था ।

हुइनेंग (सन् ६३८-७१३ ई०) दक्षिण चीन का निवासी था और युवावस्था से ही लकड़ी बेचने का व्यवसाय करता था । उसका पिता जीवित नहीं था, इसलिए उसे ही इस प्रकार द्रव्य जुटाकर किसी ढंग से अपनी वृद्धि माता भरण-पोषण करना पड़ता था । उसने एक दिन लकड़ी बेचते समय किसी के मुख से ‘वज्रछेदिक सूत्र’ के किसी अंश का पारायण सुना । उसका उस पर मर्मस्पर्शी प्रभाव पड़ा और वह उसके मूल की खोज में एक मास की यात्रा करता हुआ हुंग-जोन के आश्रम तक पहुँच गया । उसने कुलपति से भेंट की और उनसे, बुद्धत्व-प्राप्ति का मार्ग बतलाने की प्रार्थना करता हुआ, वह उनकी शरण में जा गया । उपयुक्त पद्य की रचना ने, अंत में, उसका उतना मान बढ़ाया कि स्वयं हुंगजोन तक को एक दिन उसे एकान्त में बुलाकर अपने कुलपति के सारे चिह्न उसे दे देने पड़े । हुंगजोन ने ऐसा करते समय उसे यह परामर्श भी दिया कि अभी कुछ दिनों तक तुम अपने को गुप्त रखना और जब तक उपयुक्त अवसर न आए, सर्वसाधारण के बीच उपस्थित होकर अपने प्रवचन न देने

लगाना। उन्होंने यह भी कह दिया कि हुइनेंग अपने पीछे किसी दूसरे को कुलपति के पद का अधिकारी भी न घोषित करेगा। अतएव, हुइनेंग जैन संप्रदाय के छठे अथवा अंतिम कुलपति के रूप में प्रसिद्ध हैं और उसी को इसके मत को विशुद्ध एवं सुव्यवस्थित रूप देने वाला भी बतलाया जाता है।

फिर भी हुइनेंग द्वारा उपदिष्ट जैन सिद्धांतों एवं साधनाओं का अधिक प्रचार केवल दक्षिणी चीन तक ही सीमित रहा। उत्तरी चीन में जैन संप्रदाय की एक अन्य शाखा, उपर्युक्त जिहू के नेतृत्व में, प्रचलित हुई इसके सिवाय, इन दो उप-संप्रदायों के अतिरिक्त, कतिपय अन्य ऐसे पंथ भी उन दिनों प्रचलित थे जिनका सम्बंध बोधिधर्म की परंपरा के साथ नहीं जोड़ा जा सकता, किन्तु जिनके मतों की प्रमुख बातें जैन के सिद्धांतों जैसी थीं तथा, इसी कारण, जिनकी गणना बहुधा इसी संप्रदाय के साथ की जाती है। ऐसे छोटे-छोटे, किन्तु विशेष प्रभावशाली संप्रदायों में 'तैदई' सबसे अधिक प्रसिद्ध है। इसका एक प्रसिद्ध प्रचारक 'ची-आई' दार्शनिक भी था जिसने अपने मत की पुष्टि में, बहुत से तत्वज्ञान-विषयक तर्क-वितर्कों के आधार पर, गूढ़ शास्त्रीय चिंतन को भी प्रोत्साहन दे दिया। ऐसे कई पंथों का प्रचार ईसा की छठों एवं सातवीं शताब्दियों से ही होने लग गया था। कुछ कारणों से फिर आगे भी इनमें कमी नहीं आयी। बारहवीं शताब्दी तक जैन संप्रदाय चीन से जापान देश तक पहुँच गया, जहाँ पर इसका और भी अधिक स्वागत हुआ। यहाँ पर यह उस देश की सांस्कृतिक अभिवृद्धि में भी बहुत बड़ा सहायक सिद्ध हुआ। जापान की 'सुमिये' नामक चित्र-कला तथा उसकी 'ह्यक्' नामक काव्य-परंपरा के उद्गम एवं विकास का आधार वास्तवतः जैन संप्रदाय की ही भाव-धारा को माना करते हैं और देश अथवा चीन तक के बौद्ध धर्म के सर्वप्रमुख प्रतिनिधि में इस मत को ही स्वीकार किया जाता है।

जैन संप्रदाय के मूल सिद्धांत और उसकी विशिष्ट साधना-प्रवृत्ति

■ भी परिचय उन दो-चार पंक्तियों द्वारा दिया जा सकता है जो बोधिधर्म के संदेश रूप में आज भी प्रचलित हैं और जिनके अनुसार—
 “बुद्धत्व की वास्तविक उपलब्धि अपने मूल वा सहज रूप का अत्यन्त हीकरण है, अतः इसके लिए जो भी संकेत दिया जा सकता है उसे साधक के सीधे भर्मस्थल को स्पर्श करना चाहिए, वह स्वभावतः धर्म-ग्रन्थों के बाहर की बात होगी और विलक्षण भी होगी। उसके लिए यह भी आवश्यक नहीं कि वह किन्हीं सन्दों अथवा अध्वरों के द्वारा ही प्रकट की जाय।”

कहते ■ कि स्वयं बोधिधर्म ने अपनी साधना, कई वर्षों तक एक दीवार की ओर निरंतर अपना ध्यान जमाते हुए की थी। ‘ज्ञेन’ वा ‘ध्यान’ शब्द ■ प्रयोग, सर्वप्रथम, कदाचित् ऐसी ही किसी ■ के आशय पर किया भी गया होगा। इस संप्रदाय की उत्तरी चीन वाली शाखा के अनुयायियों का भी यही कहना है कि इस प्रकार की ध्यान-साधना द्वारा ही क्रमशः बुद्धत्व की उपलब्धि संभव है। किन्तु दक्षिणी चीन के ज्ञेन मतवालों को इसे प्रायः कुछ भी महत्व देना नहीं चाहते। इनका कहना है कि ध्यान की प्रक्रिया द्वारा केवल अपने चित्त पर जमे हुए मल को क्रमशः दूर करके उसे विशुद्ध कर दिया जा सकता है। इसका मूल्य केवल एक महत्वपूर्ण साधना होने मात्र में है, इसे अंतिम साध्य अर्थात् ‘बोधि’ वा बुद्धत्व की उपलब्धि ■ स्थान नहीं दे सकते। ‘बोधि’ वह चरम स्थिति है जिसमें न केवल हमें अपने सहज रूप का पूर्णबोध हो जाता है, अपितु जिसके द्वारा जीवन में आमूल परिवर्तन भी हो जाता है। वह कहीं से आने वाली बाहरी वस्तु नहीं और न किन्हीं क्रमिक प्रयत्नों का परिणाम ही है। वह अपने भीतर आकस्मिक रूप से और अपने आप, जाग्रत हो जाती है जिसके लिए केवल एक साधारण सी घटना का संकेत भी पर्याप्त है।

‘बोधि’ ‘वयाभूतम्’ या वस्तुस्थिति की सहज अनुभूति है और

वह साधारण 'ज्ञान' से नितांत भिन्न कही जा सकती है। ज्ञान की दशा के लिए साधारणतः किसी एक 'ज्ञाता' एवं किसी एक अन्य 'ज्ञेय' वस्तु की आवश्यकता पड़ती है। यह बुद्धि के साधन से उपलब्ध होता है जो, बहुधा तर्क-वितर्क का सहारा लेती हुई, समाधान के ■■■ पर निश्चय किया करती है। यह 'ज्ञेय' विषय में प्रवेश करना चाहती है उसके वास्तविक रूप को परखती है, उसका मानसिक विश्लेषण कर, उसके प्रत्येक अंश का संतुलन और तुलनात्मक अध्ययन कर तथा इस से कोई परिणाम निकालती हुई उसे समझ पाने की चेष्टा करती है। यह आवश्यक नहीं कि ऐसे सभी प्रयत्न पृथक्-पृथक् और किसी एक क्रम विशेष में ही किये जायें और वे सर्वथा स्पष्ट भी रहें। केवल इतना कहा जा सकता है कि, इन सभी के एक साथ और क्रम-हीन रूप में रहते हुए भी सारी क्रिया का फल भेद-शून्य नहीं हो पाता बुद्धि के आधार पर उपलब्ध ज्ञान में 'ज्ञाता' एवं 'ज्ञेय' विषय ■■■ भेद बना रह जाता है। परंतु बोधि नामक अनुभूति के लिए न बुद्धि का आश्रय अपेक्षित है, न इसकी चरम स्थिति में किसी वैसे भेद की प्रतीति का होना ही संभव है।

बोधि की दशा उस ■■■ जन्य अंतर्दृष्टि का परिणाम है जो सीधे वस्तु-तत्त्व के अंतस्तल तक प्रवेश कर जाती है। इसके लिए किसी तर्क वा अनुमान की प्रक्रिया आवश्यक नहीं, न कोई विचार-विमर्श ही अपेक्षित है। इसमें न कोई विश्लेषण है, न तुलनात्मक चिंतन है, न आगे-पीछे सोचना है और न किसी निश्चय पर पहुँचना है; केवल प्रत्यक्ष देख लेना ही सभी कुछ है। इसमें कोरा एकमात्र संकल्प है, किसी विकल्प के लिए यहाँ स्थान नहीं, न किसी प्रकार के संदेह की ही संभावना है। बुद्धि के लिए कहा जा सकता है कि वह तटस्थ होकर काम करती है और प्रत्येक बात को यथोचित रूप में पृथक्-पृथक् रहने देना भी चाहती है। अतएव,

बुद्धि अन्य ज्ञान को हम सापेक्ष भी कह सकते हैं जहाँ प्रज्ञा अन्य अपरोक्ष ज्ञान सदा निरपेक्ष ही हो सकता है। इसमें केवल एकमात्र 'ईश्वर' होगा और 'एकचित्त' की ही अन्विति में ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान तक का अमेद परक समावेश रहा करेगा। यह बोधि की दशा किसी वाक्य वस्तु की अनुभूति न होकर, वस्तुतः उस अनिर्वचनीय स्थिति की ही बोधिका है जिसे 'स्वानुभूति' कहा करते हैं। परंतु इसका 'स्व' किसी आत्म-तत्त्व का बोधक नहीं कहा जा सकता, क्योंकि बौद्ध दर्शन के अनुसार उसका कोई अस्तित्व नहीं है। फिर भी इस प्रकार बोध के हो जाते ही सारे जीवन के प्रति अपना दृष्टिकोण बदल जाता है और उसमें पूरी काया-पलट आ जाती है।

इस 'बोधि' वा दूसरे शब्दों में, 'अनुत्तर सम्यक् संबोधि' को ही आपान के ज्ञेन मत्तावलंबी 'सतोरी' का नाम देते हैं। सतोरी वह अंतर्दृष्टि है जो वस्तु-तत्त्व के प्रति नितांत सहज एवं प्रमाण-निरपेक्ष रूप में काम करे और इसी कारण जो संपूर्ण जीवन से भी सम्यक् हो। इसके द्वारा अपने भीतर न केवल एक विलक्षण क्रांति उत्पन्न हो जाती है, अपितु अपना एक नवीन पारमार्थिक मूल्यार्कन तक चिह्न हो जाता है सतोरी हमें पुनर्जीवन प्रदान करती है। इसके परिणाम स्वरूप हमारे लिए एक 'तीसरा नेत्र' जैसा साधन मिल जाता है जिससे हम प्रत्येक बात को नये ढंग से देखने लगते हैं। वास्तव में यह ज्ञेन मतानुसार, सत्य के वास्तविक रहस्य की उपलब्धि है जिससे कोई भी दूसरी अनुभूति अधिक प्रामाणिक नहीं हो सकती। यह 'अविद्या' की दशा का 'संबोधि' के रूप में परिवर्तित हो जाना है और 'भूततथता' का अपरोक्ष अनुभव कर लेना है जिसके परिणाम-स्वरूप समग्र जीवन-दृष्टि 'परिवृत्त' होकर वा उलट कर और-की-और बन जाती है।

इस अंतिम सिद्धि को प्राप्त करने के लिए ज्ञेनमत वाले तीन प्रकार की युक्तियों का आश्रय लेते हैं। इनमें से पहला

उपाय किसी छड़ी दीवार की ओर शून्यभाव के साथ निरंतर एकटक देखना है जो वस्तुतः दीवार का देखना न होकर, वैसी दीवार की भाँति स्तम्भ एवं शांत रहकर अपने चित्त के रहस्य की ओर सम्यक् ध्यान देना कहला सकता है। ज्ञान संप्रदाय के प्रथम कुलपति बोधि-धर्म ने यही साधना निरंतर कई वर्षों ■ की थी और इसे ही पहले उनके अनेक अनुयायियों ने भी अपनाया था। परंतु चीन के साधकों ने पीछे इसकी अपेक्षा दो अन्य उपायों को कहीं अधिक महत्व देना आरंभ कर दिया। इन दोनों में से एक का नाम 'प्रश्नोत्तर-पद्धति' (मौदो) है और दूसरे को 'पहेली का अभ्यास' (कोअन) कहते ■। मौदो की प्रणाली गुरु द्वारा किये गए विकट से विकट प्रश्न का तत्क्षण उत्तर चाहती है और इसके लिए एक कुत्ते के दूताचार्य का भी अवकाश नहीं लेने देती। उदाहरण के लिए यदि गुरु अपने हाथ की छड़ी को सामने दिखला कर अपने शिष्य से कह बैठे, "इसे छड़ी न कहो, यदि ऐसा करते हो तो स्वीकृति होगी। इस का छड़ी होना अस्वीकार न करो क्योंकि ऐसा करना अस्वीकृति हो जायगी। बिना किसी स्वीकृति वा अस्वीकृति का भाव मन में लाये बोलो, बोलो, शीघ्र बोलो" तो निश्चय है कि यह कोई ऊट-पटांग उत्तर ही दे दे। आवश्यक यह है कि यह शिष्य उसे केवल वैसा ही उत्तर दे सके जो उसके मुख से स्वभावतः अर्थात् बिना ■ भी चिंतन किये ही निकल जाये।

'कोअन' का अभ्यास कुछ और ही प्रकार का होता है और वह इस से नितांत भिन्न भी कहा जा सकता है। कोअन में कोई-न-कोई अटपटी पहेली दे दी जाती है और गुरु या निर्देशक चाहता ■ कि उसका शिष्य उसे सुलझा कर उस में अंतर्निहित रहस्य को हृदय-गम कर ले। पहेली की बातें परस्पर विरोधी जान पड़ती हैं, किन्तु फिर भी, उन्हीं के आचार पर शिष्य को उपदिष्ट कार्य भी करना रहता है। वह बड़े फेर में पड़ जाता है और वह उस ■ उबेक-भुन

में लगकर बहुधा द्वार भग्न कर बैठ भी सकता है। परंतु, ऐसे प्रयत्नों में व्यस्त रहते समय ही, उसे कभी एक ऐसी बात सूझ जाती है जिसकी ओर उसका ध्यान कभी नहीं गया था, जिसके दृष्टि में आते ही वह अध्यात्मिक आनंद में आकर उल्लस पड़ता और पूर्णतः गदगद होकर झूमते जाता है। वास्तव कोश्वर प्रयोग किसी की समझ की परीक्षा लेने के लिए ही होता है और वा तो किसी प्राचीन महापुरुष के कथन के रूप से होता है अथवा किसी ऐसे उत्तर के रूप में भी हो सकता है जो उसने, किसी महत्त्वपूर्ण प्रश्न के पूछे जाने पर, संक्षिप्त रूप में दे दिया हो। इसके पीछे गहरी अनुभूति परिणाम छिपा रहता है जो शब्दों के जाल में स्पष्टतः लक्षित नहीं हो पाता। उदाहरण के लिए यदि कोई यह कहे कि, “उारे पदार्थ केवल ‘एक’ में अपचित किये जा सकते हैं, किन्तु वह ‘एक’ ही कहाँ है जिस का अपचय किया जाए ?” और इसके उत्तर में बतलाया जाय कि “जब मैं श्रमुक प्रदेश में था तो मैंने एक पहनावा बना लिया था जो बहुत भारी था” तो यह कोश्वर कहला सकेगा, क्योंकि प्रश्न एवं दोनों असम्बद्ध से लगते हैं, किन्तु कोनमत के साधकों के अनुसार, इसी में पूर्ण तथ्य भी आ गया है।

इस प्रकार सतारी अथवा बोधि की उपलब्धि के लिए किसी दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता नहीं समझी जाती। इसकी अनुभूति के पहले किसी भी प्रकार की भावना का उपयोग में लाना ही व्यर्थ है, चाहे वह निर्वाण की ही क्यों न हो। इसमें सीधे उस बाँध को तोड़ कर उड़ा देना है जिसके कारण हमारी सम्यक् दृष्टि का सहज प्रकार रुका हुआ और इसे पूर्ण से अव्यवहित कर देना है। यह एक व्यावहारिक प्रयोग की अपेक्षा करता है जिससे सारी बातें सीधे जीवन में उतर आ सकें और उस में ओतप्रोत बनी रह जायें। इसके लिए न तो कोई विस्तृत अध्ययन चाहिए, न किसी दीर्घकालीन आध्यात्मिक साधना की ही आवश्यकता

सकती है। प्रत्येक व्यक्ति के भीतर पूर्ण सुखत्व प्राप्त करने की क्षमता स्वभावतः निहित है, उसे एक बार केवल ■■■ भर कर देना ■। यह कार्य किसी योग्य निर्देशक द्वारा केवल एक झटके से भी पूरा किया जा सकता है, किन्तु उसे ऐसा होना चाहिए जो इसे पूरा झटकोर दे। सभी यह समझ है कि हमारा मर्म-स्थल तक प्रभावित हो सकेगा और हमारे अंतर्जीवन की बटिल गुत्थियों ■ पूर्ण प्रकाश ■ सकेगा। निर्देशक का काम पहले केवल यही देख लेना है कि जिस व्यक्ति पर प्रयोग करते हैं उसके प्रत्यक्ष जीवन के ताने-बाने किस प्रकार बुने हुए हैं, उस पर पड़ा हुआ आवरण किस प्रकार का है और कैसा झटका देकर उसे हम तत्क्षान्त निरावृत्त कर सकते हैं। उसे कुछ बाहर से देना नहीं पड़ता, न कहीं बाहर का मार्ग ही दिखलाना होता है। वह केवल एक संकेत मात्र से किसी व्यक्ति की अपनी ही वास्तविक स्थिति को झट सुलझा भर देता है जिससे ■ सजग बनकर सही मार्ग पर जा जाय।

(१)

ज्ञान साधकों के लिए प्रयोग में आने वाले उपर्युक्त कोशून्य वाक्यों की चर्चा करते हुए, अर्नेस्ट ■ ने कहा है “आचार्य गौडपाद ने ‘मायहूक्योपनिषद्’ पर लिखी अपनी टीका में जहाँ बतलाया है कि ‘कोई अंत नहीं, कोई सृष्टि नहीं, कोई बंधन नहीं, ■ सृष्टि-कर्ता है, न साधक है और न कोई मुक्त ■ होता है—यही वास्तविक ज्ञान ■ और फिर इसी क्रम में जो उन्होंने आगे भी ‘और नहीं, नहीं’ तथा ‘यही वस्तु-स्थिति है’ लिखा है वह संयोगवश किसी कोशून्य ■ ही सुंदर उदाहरण बन गया है।”^१ यहाँ पर लेखक संभवतः गौडपादाचार्य की उस कारिका की ओर संकेत करता है जिसमें उन्होंने

1. Ernest Wood : Great System of Yoga (Philosophical Library. New York, 1954.)

‘परमार्थता’ की परिभाषा दी है^१, और वह फिर उसके आगे की कारिकाओं में आगे प्रासंगिक उल्लेखों की ओर भी ध्यान दिलाना चाहता है। वास्तव में औपनिषदिक साहित्य के अंतर्गत बहुत से ऐसे ■ मिल सकते ■ जो न केवल कोशनों से, अपितु उपर्युक्त सोदों से भी सादृश्य रखते हैं। इसके सिवाय पार्तल्ल योग दर्शन द्वारा पता चलता ■ कि जिस प्रश्न के साधन से बोधि की उपलब्धि संभव है वह भी कदाचित् उस ‘प्रज्ञालोक’ से भिन्न नहीं जो क्रमशः धारणा, ■ एवं समाधि इन तीनों के ‘एकत्र संयम’ का परिणाम है।^२ अंतर प्रधानतः, इतना ही जान पड़ता है कि, जैनमत के अनुयायियों ने ऐसी सभी बातों को अधिक व्यावहारिक और सचः परिणामी रूप दे दिया ■।

यों तो जैन मतवालों की किसी प्राचीन धार्मिक ग्रन्थ को अपनी मान्यताओं के लिए आधार मानते नहीं जान पड़ते, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि बौद्धों के प्रसिद्ध ग्रन्थ ‘लंकावतार सूत्र’ ‘वज्रछेदिक सूत्र’ आदि ■ ऐसे हैं जिनका उन पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ा है। इसके सिवाय उनकी दार्शनिक विचारधारा के सम्यक् अनुशीलन द्वारा ■ भी स्पष्ट होते देर नहीं लगती कि वह वस्तुतः उस मूलस्रोत का ही एक विकसित रूप है जो कभी शून्यवाद एवं विज्ञानवाद के माध्यमों से प्रवाहित होता आया था।^३ भारत में उसने तांत्रिक प्रभावों में आकर विभिन्न ‘यानों’ के रूप धारण किये और यहाँ के वेदांत दर्शन

१. न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च स्वायत्तः ।

न सुमुच्यते नै मुक्त, इत्येवा परमार्थता ॥

सायङ्गम्य कारिका’ वैतथ्यप्रकरण, १२॥

२. योगसूत्र (विभूतिपाद, ४-५) ।

३. Dr. Radhakrishnan : History of Philosophy Eastern and Western (London) Vol. I., p. 578.

■ को कुछ ग्रंथों में प्रभावित किया। चीन में बोधिधर्म के पहुँचने के पहले से ही, हुई भुश्रन (सन् ३३३-४१६ ई०) द्वारा अमिताम के प्रति प्रगाढ़ भक्ति प्रदर्शित करने वाला तथा किसी 'पुनीतलोक' में आस्था रखने वाला 'लुगन संप्रदाय' प्रतिष्ठित किया जा चुका था और वह 'ध्यान' की साधना को महत्व देता था। हुई भुश्रन ताओ धर्म का भी उपासक रह चुका था जिस कारण उसके इस मत में चीनी जाति की विशिष्ट परंपरा भी ■■■ रही थी। जैन संप्रदाय ऐसी सभी बातों के लिए उसका श्रुत्पी ठहराया ■ सकता है, किन्तु फिर भी, उसमें कुछ अपनी विशेषताएँ हैं। उसके प्रमुख सिद्धांतों पर एक अनोखी व्यावहारिकता की छाप लगी हुई है, उसकी साधना में वास्तविकताओं का नितांत अभाव ■ और सबसे बढ़कर उसने, एक विशुद्ध प्रवृत्तिमार्गी जीवन को ही विशेष महत्व देकर, अपने अनुयायियों को 'पारलौकिकता' के भुलावों से बचाया है।

बौद्ध धर्म के इस संप्रदाय की बहुत सी बातें उत्तरी भारत के पश्चिम ■■■ से मिलती-जुलती जान पड़ती हैं। उसके अनुयायी, कबीर साहब आदि संतों की भाँति, शास्त्रों वा धर्म-ग्रन्थों का आश्रय लेना ठीक नहीं समझते। वे किसी गुह वा निर्देशक के प्रति पूरी आस्था रखते हैं, किन्तु परावर्त्तनी बनकर नहीं रहना चाहते। संतों की ही भाँति वे उससे 'जुगुति' संकेत ग्रहण करते हैं और, प्रायः एक ही प्रकार, उनसे प्रभावित हो अपने जीवन में 'काया-चलट आ जाने का अनुभव भी किया करते हैं। जैनमत वाकों द्वारा उपलब्ध की जाने वाली 'सत्तरी' वा बोधि की दशा भी संतों की सहजानुभूति से बहुत भिन्न नहीं है। इस सम्बंध में जो सबसे उल्लेखनीय अंतर ■ वह यह है, कि जैनमत वाले वहाँ उसे किसी स्थिति विशेष के ही ■ में सीमित रखने की ओर प्रवृत्त जान पड़ते हैं, वहीं संतों ने उसे एक अनिर्वचनीय परमात्म-तत्त्व के रूप ■ भी स्वीकार कर उसे व्यक्तित्व तक प्रदान कर दिया है। अतएव, सत्त्व में जितना

भक्तिभाव तथा प्रेमरस का आग्रह दीख पड़ता है उतना ज़ेनमत में नहीं है। उसमें संतों की नामस्मरण-साधना भी, नैश्चल्य के रूप में, विद्यमान ■ जिससे ■ का चिंतन करने की प्रतीति हो सकती है, किन्तु इन दोनों की प्रक्रियाओं में कुछ अंतर भी है। ज़ेन मत वाले भी अपनी अनुभूति की अभिव्यक्ति में संतों की भाँति प्रतीकों के प्रयोग करते ■ और उलटवासियाँ तक कहने लगते हैं, जैसे “मैं खाली हाथ हूँ, किन्तु फावड़ा मेरे हाथ में है, मैं पैदल चलता हूँ, किन्तु बैल पर सवार हूँ, जम ■ पुल से पार करता ■ तो पानी नहीं बहता है, पुल ही बहा जा रहा है।”

बौद्ध धर्म की विदेश-यात्रा

बौद्ध धर्म ■ प्रचार-कार्य की नींव, उसके उद्देश के लगभग साय ही, पक गयी थी। उसके प्रवर्तक गौतम बुद्ध ने ■ श्रुतिवत्तन वाला उपदेश देने के कुछ ही अनंतर अपने अनुयायियों को उसके प्रचारार्थ चारों ओर भेजना आरंभ कर दिया था। इन प्रचारकों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा था, "भिक्षुओं, जाओ, बहुजन हित के उद्देश्य से जाओ, और विश्व के कल्याणार्थ, ■ करो। इस उत्कृष्ट मत की सर्वत्र प्रवर्धना करो और पूर्ण एवं पवित्र जीवन का उपदेश देना आरंभ कर दो।" फिर, "इस मार्ग की ओर उस सम-कालीन नक्षत्र की भाँति अंगुलि-निर्देश करो जो अंधकार में पड़े हुए यात्रियों का बाहे अपने धीमे प्रकाश द्वारा ही क्यों न हो, पथ-प्रदर्शन किया करता है; ऐसे पथिकों को प्रकाश दो, उन्हें शान्ति प्रदान करो और ज्ञान के लिए आर्त-मानवों को 'धम्म' के सुनने का ■ दो।" इस प्रकार तयागत के उपदेशों का वास्तविक उद्देश्य जीवन-दर्शन का निर्माण करना था और जीवन के प्रति उन्मुख होने ■ एक दृष्टिकोण सबके लिए प्रस्तुत ■ देना था। उनके कथन की शैली प्रवचनों के रूप में रहा करती थी, किन्तु उसके अनंतर विचार-विनिमय भी हुआ करता था। केवल इस बात की चेष्टा की जाती थी कि भोक्ताओं को अपने ■ सोचने तथा तदनुसार आचरण करने की प्रेरणा दी जाय। बौद्ध धर्म के लिए, इसी कारण, किसी नटिल विधान आवश्यकता परीक्ष्य सत्ता की मान्यता भी आवश्यक नहीं थी। प्रत्येक व्यक्ति अपने उद्धार के लिए स्वयमेव समर्थ समझा जाता था। अतएव, अपने आरंभ काल से ही, यह धर्म एक ऐसे रूप में प्रचलित होने लगा, जो एक ही ■ सुगम और सार्वजनिक भी था।

बौद्ध धर्म के प्रचार-कार्य में, तयागत ■ परिनिर्वाण होने पर भी,

किसी प्रकार का डीलापन नहीं आने पाया। जहाँ तक पता चलता है, उनके आदेशों का पालन, उनके शिष्यों द्वारा, सदा होता आया और धर्म ग्रहण करता गया। सम्राट् अशोक (सा. का. वि. पूर्व सं. ३३०-३६०) के समय तक इसका प्रभाव कम से उत्तरी भारत में, अवश्य जम चुका था। फलतः अपनी कलिग-विजय (वि. पू. सं. ३६८) के अनंतर, इस ओर वे आकुष्ट हो गये और उन्होंने हमें न केवल स्वयं अपनाया तथा इसे अपना राजधर्म बनाया, अनितु इसके समुचित प्रचार के लिए भी वे कटिबद्ध हो गये। उन्होंने इसके अनुयायियों की 'तृतीय संगीति' का आयोजन किया जिसमें निरंतर नव महीनों तक वाद-विवाद चलता रहा और इसके अनंतर, विभिन्न भारतीय प्रांतों के अतिरिक्त, सुदूर विदेशों तक में इसके प्रचारकों भेजा जाना आरंभ हो गया। जिन-जिन देशों के साथ उनका संपर्क बढ़ा, वहाँ-वहाँ उन्होंने बौद्ध धर्म के संदेश भेजे और इसके प्रचारार्थ प्रयत्न किये। तदनुसार उनके धर्मभूत जहाँ एक ओर लंका द्वीप एवं स्वर्णद्वीप (संभवतः बर्मा) जैसे देशों तक गये वहाँ वे दूसरी ओर सीरिया, मिस्र, साइरीन, मैसिडोन तथा एपिरस जैसे यूनानी राज्यों जा पहुँचे। सम्राट् अशोक ने इन राज्यों के शासकों से अनुरोध किया कि वे इस धर्म का अपने यहाँ प्रचार करें। उन्होंने अपने साम्राज्य के सीमांत प्रदेशों में निवास करने वाली भिन्न-भिन्न जातियों में भी इसके संदेश अपने शिला-लेखों द्वारा पहुँचाये। सम्राट् अशोक के अनंतर ऐसे कार्यों में विशेष भाग लेने वाले एक अन्य पुरुष, सम्राट् कनिष्क भी हुए जिन्होंने इसे पूर्ण प्रभय दिया तथा इसकी 'चतुर्थ संगीति' आमंत्रित की और इसका प्रचार किया।

सम्राट् अशोक के समय की गई 'तृतीय संगीति' का एक प्रमुख उद्देश्य यह भी था कि इस धर्म के विभिन्न अनुयायियों में, उस काल में हो गये मतभेदों निराकरण कर उनमें पूर्ण सामंजस्य

ला दिया जाय। किन्तु उस अविवेचन को इस ओर पूरी सफलता नहीं मिल सकी। इसके अनुयायियों के दो भिन्न-भिन्न दलों का पृथक्-पृथक् संगठन और प्रचार-कार्य आरंभ हो गया। विषय में पीछे समाट् कनिष्क के समय आमांभत की गयी 'चतुर्थ संगीति' के भी किये कुछ नहीं हो सका और दोनों दल महायान एवं हीनयान के नामों से प्रसिद्ध हो गये। इन दोनों की विचार-वाराओं में जहाँ अनेक असमानताएँ थीं, वहीं वे कई बातों में समानताएँ भी थीं। दोनों दल इस बात को मानते थे कि संसृति अनादि और अनंत है, सभी अनात्म हैं, सभी परिवर्तनशील हैं, कर्मवाद एवं जन्मांतर के नियम अनिवार्य हैं, हमारा अज्ञान सारे दुःखों का कारण है और आष्टांगिक मार्ग के अनुसार आचरण करना सर्वथा अभिनंदनीय है। किन्तु इन दोनों में प्रमुख भेद इन बातों का था कि हीनयानी जहाँ गौतम बुद्ध को एक ऐतिहासिक महा-पुरुष मानकर चलते थे, उनका लक्ष्य प्रधानतः व्यक्तिगत सुधार एवं अर्हत् की प्राप्ति का था, भिक्षुओं एवं भक्तों के आचरणों में स्पष्ट भेद की कल्पना करते थे। अनात्म-तत्त्व के भाव को केवल तर्क पर आश्रित मानते थे और निर्वाण की दशा को जहाँ वे केवल तुम्हा, मोक्ष एवं मोह की निवृत्ति तक ही सीमित मानते जान पड़ते थे, वहाँ महायान गौतम के व्यक्तित्व को बहुत कुछ दार्शनिक वा अलौकिक रूप दे देता। व्यक्तिगत सुधार कहीं अधिक विश्व-कल्याण के लिए योजना तैयार करता था, भिक्षुओं एवं भक्तों के आचरण की भिन्न-भिन्न व्यवस्थाएँ देना उतना पसंद नहीं करता था। अनात्म-तत्त्व को अनुमनाश्रित मानता था तथा निर्वाण को केवल एक निषेधात्मक संज्ञा न देकर उसे वास्तविक दशा का रूप भी प्रदान करता था। संक्षेप में कह सकते कि हीनयान की अपेक्षा महायान अधिक प्रगतिशील एवं सुनिश्चित विचारों का समर्थक था। यह किसी व्यक्ति भाव के लिए अर्हत् के आदर्श को ही सर्वोच्च स्थान न देकर,

■ किसी के लिए बोधिसत्व की उपयोगिता का समर्थन भी करता दीख पड़ता था ।

इस प्रकार समय पाकर, बौद्ध धर्म अपने प्रवर्तक के उपदेशों का केवल एक साधारण निचोड़ मात्र ही नहीं रह गया । इसने क्रमशः धर्म एवं दर्शन का एक संमिलित रूप ग्रहण कर लिया और इसके अंतर्गत अनेक प्रकार की विचार-धाराएँ अंतर्भूत हो गईं । इसका एक प्रमुख कारण यह था कि इसके क्रमिक विकास को सदा विचार-स्वार्थन्य से ही अधिक मिलाता गया और जहाँ-जहाँ इसका प्रचार हुआ वहाँ-वहाँ इसने अपने को स्थानीय प्रचलित परंपराओं तथा विभिन्न परिस्थितियों के भी अनुकूल बना बालने का प्रयत्न किया । अपने मूल स्थान भारतवर्ष में जहाँ इसे हिंदू धर्म के साथ विकसित होने के अवसर मिला, यह उसमें क्रमशः घुल-मिल कर तद्रूप बन गया । यह इसलिए संभव हुआ कि बौद्ध धर्म का मूल उत्स वस्तुतः वेदों, नाटकों एवं उपनिषदों के ही क्षेत्र में प्रतिष्ठित रह चुका था । इस कारण, उन पर आश्रित हिंदू धर्म के एक भार पुनः आगृत हो जाने पर, इसके साथ उसका समन्वयात्मक आदान-प्रदान हो जाना बहुत सरल बन गया । परंतु बाहर जाकर यह कई रूपों में दीख गया । यदि स्थूलतः विचार किया जाय ■ भी विदेशों में इसके कम से कम चार प्रमुख संप्रदाय बतलाये जा सकते ■ जिनमें से प्रत्येक में कई उप-संप्रदाय हैं । इसका सबसे प्राचीन (और संभवतः भौतिक) हमें 'हीनयान' अथवा थेरेवाद में दीख पड़ता है जो इस समय लांका, बर्मा, श्याम, आदि में मिलता है । किन्तु इसके अधिक विकसित वा परिवर्तित रूप 'महायान' का पता हमें ■ कई देशों में चलता है जिनमें चीन, कोरिया, आदि के नाम लिये जा सकते हैं । तिब्बत, भूटान, सिक्किम एवं नेपाल में इसका रूप महायान से भी कुछ भिन्न कहा जा सकता है । इसी प्रकार, जापान में प्रचलित, एवं 'केत' के नाम से प्रसिद्ध संप्रदाय में अनेक ऐसी

विशेषताएँ आ गयी हैं, जिनके कारण उसे इसके साथ सम्बन्ध करना कठिन हो जाता है।

विदेशों में बौद्ध धर्म के पहुँचने, वहाँ प्रचलित होने तथा वहाँ की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार इसके न्यूनाधिक परिवर्तित रूप करते जाने का इतिहास बहुत मनोरंजक है। इससे उसके वास्तविक की समीक्षा तथा मूल्यांकन करने में हमें बहुत सहायता मिलती है। केवल कतिपय विश्वजनीन एवं शाश्वत प्रश्नों को लेकर निश्चित किया गया एक दृष्टिकोण जिसे आज लगभग दार्ढ्य सहस्र वर्ष पूर्व किसी भारतीय महापुरुष ने अपने गंभीर चिंतन के उपरान्त अपनाया था, किन साधनों के सहारे अपने प्रचार-क्षेत्र की सीमा लॉघ कर सुदूर विदेशों तक पहुँच गया, किन रूपों में उसका कहाँ स्वागत हुआ और, कैसे-कैसे संघर्षों सामना करता हुआ वह अंत में आज के विभिन्न भेदों के साथ प्रकट हुआ। इसकी कहानी स्वभावतः बहुत विस्तृत और विचित्र भी बन गयी है, जिसकी यहाँ केवल एक रूपरेखा मात्र ही प्रस्तुत की जाती है।

बौद्ध धर्म के विदेशों में किये गए, सर्वप्रथम, प्रचार का निश्चित पता हमें लंकाद्वीप के सम्बंध में उपलब्ध है। सम्राट् अशोक ने वहाँ पहले पहल स्वयं अपने 'पुत्र' थेरो महिंद अथवा महेंद्र को भेजा जिन्होंने वहाँ एक धर्मोपदेशक के रूप में जाकर प्रचार कार्य किया। 'दीपवंश' एवं 'महावंश' नामक दो प्रसिद्ध सिंहली ग्रन्थों से पता चलता है कि राजकुमार महेंद्र को वहाँ बहुत बड़ी सफलता मिली और वे आजीवन प्रयत्नशील बने रह गये। उन्होंने वहाँ के राजा 'देवानां प्रिय तिष्य' और उसके सम्राटों को बौद्ध धर्म का अनुयायी बनाया और इसके लिए संगठित कार्यक्रम की नींव डाली। कहते हैं कि 'थेरो महिंद' की अस्थिरायें एक स्तूप के नीचे गड़ी हुई, वहाँ पर वर्तमान हैं। फिर महेंद्र के अनंतर उनकी बहन संघमित्रा वा संघमित्रा भी लंका द्वीप तक पहुँच गई और वहाँ की यात्रा करते समय वह यहाँ

से [] गया के प्रसिद्ध 'बोधि वृक्ष' की एक शाखा भी लेती गई। यह शाखा, एक महान् बट [] के रूप में, वहाँ की प्राचीन राजधानी अनुराधापुर में अभी तक दीख पड़ती []। राजा तिष्य ने, इन दोनों भाई-भइनों की स्मृति में, उस क्षेत्र के निकट एक बौद्ध विहार की स्थापना की। इसके लिए कुछ भूमि की भी पृथक् व्यवस्था कर दी, वहीं पर इन्होंने एक 'श्रुपाराम डेगोवा' नामक सुंदर स्तूप का निर्माण कर दिया है, जिसमें गौतम [] की हँसली की हड्डी का सुरक्षित होना बतलाया जाता है। ईसा की तीसरी शताब्दी में, फिर इस देश में, तथागत के एक दांत का भी अवशेष चिह्न लाया गया, जो वहाँ के कैंडी नगर के एक मंदिर में सुरक्षित है। लंका द्वीप में इन अवशेष चिह्नों की सुरक्षा के अतिरिक्त एक यह महान् कार्य भी किया गया कि वहाँ पर, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी में उन चारों बुद्ध बंधनों को जो अभी तक भिक्षुओं के जिह्वा पर ही रहा करते [] लिखित [] में ला दिया गया। बुद्ध धर्म ने उन्हीं के आधार पर, ईसा की पाँचवीं शताब्दी में अपने पाली ग्रन्थ 'विजुद्धिमग्ग' की रचना की जो तथागत के मूल उपदेशों का एक प्रामाणिक कोश कहा जाता है। ग्यारहवीं शताब्दी में वहाँ के प्रचार-कार्य [] कुछ कभी अवश्य आ गई [] उस द्वीप के ऊपर भारत की ओर से चोलों का आक्रमण हुआ। परंतु इसके अनंतर वहाँ के राजा पराक्रमबाहु के शासन-काल में यह एक बार फिर सँभल गया और तबसे येरवाद की दृष्टि से यह द्वीप बौद्धधर्म का एक सुदृढ़ गढ़ [] गया। यों तो सिंहली परंपरा-नुसार वहाँ, सर्वप्रथम, स्वयं गौतम बुद्ध और उनके पहले के तीन बुद्ध भी आ चुके थे और फिर किसी राजा विजय ने भी [] प्रचार किया था।

सम्राट् अशोक ने सुवर्णभूमि अथवा बर्मा में भी अपने धर्मदूत भेजे थे, किन्तु उनके प्रारंभिक प्रचार-कार्य का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। वहाँ के [] बौद्ध निवासियों की धारणा [] कि उनके धर्म की जड़ जमाने में सबसे प्रमुख भाग वहाँ बुद्धबोध ने लिया था। तथ्य जो हो,

इतना तो प्रायः निश्चित रूप में कहा जा सकता है कि ईसा के अनंतर लगभग एक सहस्र वर्षों तक वहाँ पर एक प्रकार की नट (भूत) पूजा ही अधिक प्रचलित थी। इसके सिवाय वहाँ के बौद्धों की विचारधारा एवं आचरणों से भी ऐसा ज्ञान पड़ता कि उन पर विशुद्ध बेरवाद का प्रभाव स्पष्ट रूप में नहीं पका है। इस बात में वहाँ का बौद्ध धर्म हीनयान एवं महायान का एक मिश्रित रूप कहा जा सकता है। बर्मी लोग नटों की पूजा आज भी करते और वे उन्हें उसी प्रकार मनाते हैं जैसे लंका वाले देवताओं के प्रति भय एवं श्रद्धा का प्रदर्शन किया करते हैं। वे हृदय से कट्टर बौद्ध हैं। इस देश के राजा अनन्त जो ईसवी सन् के १०४४ से लेकर १०७७ तक पगन में राज्य करते थे, स्वयं बौद्ध धर्म के अनुयायी थे और उन्होंने ही बेरवाद को पूर्ण प्रथम प्रदान किया। उन्होंने धार्मिक सिद्धांतों के प्रचार के अतिरिक्त अपनी राजधानी में बौद्ध मंदिरों का निर्माण भी आरंभ कर दिया और उन्हें अपने राज्य भर में, पैगोडाओं के रूप में निर्मित कर देश में कला-प्रियता के भाव की प्रतिष्ठा कर दी। रंगून का स्वे डैंगोन-पैगोडा इस बात का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी में पगन राज्य पर कुबले खां का आक्रमण हुआ जिससे बौद्ध धर्म के अनुयायियों को भी कुछ कष्ट पहुँचा। किन्तु इसके लगभग तीन सौ वर्ष पीछे धम्म चेति (१४६०-६१) के प्रयत्नों द्वारा, वहाँ के बौद्ध धर्म में फिर नवीन जीवन का संचार हुआ और सारा देश एक ही धर्म के सूत्र में बँध गया। लंका द्वीप के समान वहाँ भी ईसाई धर्म ने बड़ी तत्परता के साथ अपने प्रभाव को जमाने के प्रयत्न किये हैं, किन्तु बेरवाद का आसन अभी जमा है।

श्याम देश के निवासी थाई लोग पहले पहल चीन देश की ओर से वहाँ आये थे और कदाचित् उसके पहले से बौद्ध बन चुके थे। वहाँ के निवासियों में बर्मी, करेन, शान, तलैंग, आराकानी, प्रमेर, लाओ, चाम, अन्नामो आदि अनेक प्रकार की जातियाँ पायी जाती

हैं जो बहुत काल तक परस्पर लड़ती चली आई हैं और एक ने दूसरे पर शासन भी किया है। किन्तु सभी ने सर्वप्रथम, कदाचित् महायान धर्म को ही अपनाया था और पीछे उन्होंने फिर लगभग एक ही साथ वैरवाद का मत स्वीकार कर लिया। ईसा की चौदहवीं शताब्दी में यहाँ के राजा ने लंका से किसी सिंहल भिक्षु को बुला भेजा जिसने यहाँ की राजधानी सुखोटाई में वैरवाद के संघराज पद ग्रहण किया।^१ उस समय वहाँ राजा स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी बन गया और अशोक की भाँति, उसने इसे राज्य धर्म का भी पद प्रदान कर दिया। तब से आज तक बौद्ध धर्म वहाँ के संघ एवं राज परिवार के संमिलित प्रयत्नों द्वारा प्रचारित किया जाता आया। लंका अथवा सिंहल के वैरवादी भिक्षु पीले रंग का धारण करते हैं, जहाँ बर्मी भिक्षुओं के वस्त्र का रंग नारंगी का रहा करता है। इसी प्रकार सिंहली बौद्ध लोग जहाँ अपने मत मूलाधार 'सुत्त पिटक' को स्वीकार करते हैं और बर्मी 'अभिधम्म पिटक' को महत्व देते हैं, वहाँ श्याम वालों के लिए बुद्ध वचनों का 'विनय पिटक' सर्वप्रमुख मार्ग-प्रदर्शक समझा जाता है, यों तो इन सभी की दृष्टि में संपूर्ण त्रिपिटक पूज्य धर्म है।

कंबोडिया अथवा पूरे इंदोचीन की भी दशा लगभग वही रही है जो श्याम की थी। यहाँ पर भी चीन महायान का ही प्रभाव पड़ा था और कहीं-कहीं हिंदू धर्म के पुराने रूपों के भी बहुत उदाहरण दिखलायी पड़ते थे। ईसा की चौदहवीं शताब्दी तक इस देश में प्रायः सर्वत्र यही स्थिति रही, तदनंतर श्याम देश का प्रभाव क्रमशः पड़ना आरंभ हो गया। उसके साथ यहाँ पर भी वैरवाद का प्रचार पूर्ण

^१ राजा का नाम 'सूर्यवंशराम' था और बौद्ध धर्म लंका से श्याम पहुँचने समय सन् १३६१ ईसवी गया है।—दि हिंदुइज्म मेंट बुद्धिज्म, भा० ३, पृ० १० का नोट।

■ होने लगा। इस देश की ■ विशेषता अभी आज तक यहाँ के घरेलू मुद्दों में ही लक्षित होती है, किन्तु इसके कारण यहाँ पर बौद्ध धर्म की प्रगति में कोई अंतर नहीं आ पाता। सिंहल द्वीप वा लंका से लेकर बर्मा, श्याम एवं इंदोचीन तक, इस समय, सर्वत्र येरवाद वा हीनयान का पूरा प्रभाव है। फिर भी इसका अर्थ यह नहीं कि कि इन सभी देशों में हमें हीनयान के उस पूर्व रूप के ■ दर्शन होते हैं जो तयागत का पारिनिर्वाण होने के अनंतर सर्वप्रथम दीख पड़ा था। श्याम देशीय धर्मों की प्रवृत्ति क्रमशः आधुनिक पश्चात्य विचार-धारा ■ संपर्क में आते जाने की हो रही है। योरोपीय दर्शनादि ■ विशिष्ट ग्रन्थों का स्थानीय भाषाओं में अनुवाद होता जा रहा है और येरवादी ग्रन्थों का भी भाषांतर होने लगा है और इसमें रामकीय सहायता भी उपलब्ध हो रही है। इसी प्रकार सिंहल देश में भी इस ओर पूरी अव्यति के लक्षण दिखलाई देने लगे हैं और यहाँ से धर्म-दूतों के बाहर भेजे जाने तक की व्यवस्था की गयी है। यहाँ की प्रसिद्ध 'महाबोधि सोसाइटी' की शाखाएँ विदेशों में प्रायः सर्वत्र प्रचलित होती जा रही हैं। इसके द्वारा प्रयत्न किया जा रहा है कि बौद्ध धर्म के मूलरूप का न केवल गंभीर वैज्ञानिक अध्ययन किया जाय, अपितु इसे ■ धर्मों की तुलना में भी रख कर परखा जाय। इस प्रकार के प्रयत्नों ■ एक यह परिणाम भी हो सकता है कि इन देशों में प्रतिष्ठित येरवाद के ऊपर जो स्थानीय मतवाहों वा प्रचलित परंपराओं का प्रभाव अभी पहले न्यूनाधिक रूप में पड़ चुका था ■ क्रमशः क्षीय होता चला ■ और इसका विशुद्ध रूप निखर कर ■ हो ■। कंबोज नरेशों के कट्टर बौद्ध होते हुए भी उनके दरबारों की अनेक प्रथाएँ अभी तक हिंदू धर्म का अनुसरण करती ■ और उनके पुरोहित शिखा-स्नान पारण्य करते हैं।^१

^१ 'सर चार्ल्स' इलियट: हिंदू धर्म में व पुस्तिका, खंड १, पृ० १२३

बौद्ध धर्म का हीनयान सम्प्रदाय जिस प्रकार, भारतसे बाहर, इसके दक्षिण और पूर्व की ओर बढ़ा है, उसी प्रकार महायान इसके उत्तर-पश्चिम की ओर से निकल कर क्रमशः उत्तर एवं उत्तर-पूर्व की ओर प्रचलित होता हुआ चला गया है। उधर वह भारत से चीन, चीन से कोरिया और कोरिया से जापान तक पहुँचा है। इधर चीन से ही तिब्बत तथा वहाँ से मंगोलिया और भूटान एवं सिक्किम की ओर फैला । प्रसिद्ध कि बौद्ध धर्म के प्रचारक, सर्वप्रथम, भारत से चल कर चीन देश की राजधानी में, ईसवी सन् पूर्व २१७ वें वर्ष में पहुँचे थे। समय वहाँ पर शिनवंश का राज्य था, किन्तु काल के प्रामाणिक इतिहासों में इस बात का कोई भी उल्लेख उपलब्ध नहीं है। एक परंपरा इस बात का भी समर्थन करती है कि ईसवी सन् पूर्व के १२१ वें वर्ष में चीन का कोई सेनापति मध्य एशिया से गौतम-बुद्ध की एक स्वर्ण प्रतिमा लाया था, किन्तु इस घटना का भी किसी ऐतिहासिक सामग्री के आधार पर, प्रमाणित किया जाना संभव नहीं जान पड़ता। इससे कहीं अधिक प्रामाणिक बात यह जान पड़ती है कि ईसवी सन् पूर्व के दूसरे वर्ष में यू-ए-ची जाति के शासकों ने, चीन के हान वंशीय राजाओं के दरबार में, सर्वप्रथम, बौद्ध धर्म के कतिपय मान्य ग्रन्थों को, भेंट के रूप में, प्रस्तुत किया था। निश्चित ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर केवल इतना ही कहा जा सकता है कि बौद्ध धर्म के प्रचारक वहाँ, सर्वप्रथम, ईसवी सन् ६५ में पहुँचे थे।^१

चीन देश की एक दंत-कथा के अनुसार वहाँ के हान-वंशीय सिंगटी नामक राजा (सन् ५८-७५ ई०) ने एक दिन स्वप्न में देखा कि कोई स्वर्ण निर्मित मनुष्य उड़ता हुआ, मेरे राज-मंदिर में प्रवेश कर रहा है। इसके द्वारा वह अत्यंत प्रभावित हुआ। उसे, अपने सभासदों से पूछने पर पता चला कि वह घटना पश्चिमो दिशा की ओर से गौतम

^१ डा० पी० सी० बालाजी । इंदिया ऐंड पाइना, पृ० ॥

■ के अगमन की सूचना देती है। अतएव, सन् ६५ ईसवी में उसने अपने तीन राजदूत भेजे जो भारत आये। यहाँ से काश्यप मातंग एवं धर्मरत्न नामक दो बौद्ध आचार्यों को लेकर, बौद्ध प्रतिभाओं तथा धर्म-ग्रन्थों के साथ लौटे। ये सामग्रियाँ श्वेत-घोड़ों पर आयी थीं जिस कारण उन आचार्यों के रहने के लिए निर्मित राजधानी के मठ का नाम भी 'श्वेताश्व विहार' पड़ गया। ये दोनों आचार्य वहाँ पर अपने जीवन-काल तक रह गये। उन्होंने महायान संप्रदाय के कुछ ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया। इनमें एक ग्रन्थ 'ब्यालिस अंगों का सूत्र' नाम का भी था जिसमें अधिकतर ऐसे नियम संग्रहीत थे जो बौद्धों के विचारधारा के भी अनुकूल पड़ते थे। इसकी विरक्ति-मार्गी व्यवस्था उस देश के कन्फुशियनों तथा लाओज़े के अनुयायियों को अपने मतों के विरुद्ध जैसी और यह उनके पसंद न आयी। चीन देश के निवासी स्वभावतः व्यवहारवादी होते हैं। समाज में नैतिक आचरण को प्रधानता देते हैं, जहाँ भारतीय बौद्ध धर्म मूलतः उच्च सिद्धांतों का प्रचारक था। उसमें तत्व-ज्ञान तथा असांसारिक बातों को ही अधिक महत्व दिया जाता था। इसका दुःखवाद पर आश्रित भिक्षुओं का संगठन उनके स्वभाव के प्रतिकूल जान पड़ा। एक प्राचीन सभ्य देश के निवासी होने के कारण भी, उन्होंने इसका विरोध किया अतएव, बौद्ध धर्म को वहाँ उस समय अच्छी सफलता नहीं मिल सकी। उसके लगभग तीन शताब्दी पीछे ही, वह वहाँ अपने पैर जमा सका।^१

परंतु दक्षिण चीन की ओर ■ धर्म का प्रवेश बहुत ■ स्वतंत्र रूप से भी हो चुका था। इस बात का प्रमाण मिलता है कि इसके प्रचारक उस ओर ईसा की प्रथम शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक, अपने कार्य में उसोगमशील बन चुके थे। भारत एवं चीन का व्यापारिक सम्बंध

इसके पहले, अर्थात् लगभग ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय शताब्दी के ही समय से स्थापित हो चुका था और भारतीय लोग 'चीन' शब्द से परिचित हो चुके थे। यह शब्द चीनी भाषा के त्स्विन (Tsin) का रूपांतर है जो ईसवी सन् पूर्व (२२१-२०६) पर्यंत राज्य करने वाले राजवंश का नाम था। 'चीन' शब्द का प्रयोग, प्रसिद्ध 'महा-भारत' में भी मिलता है जिसकी रचना ईसवी सन् पूर्व की द्वितीय शताब्दी प्रथम शताब्दी में हुई थी। शक. राज्य का भारत में अंत हो जाने पर इस देश के प्रथिमोत्तर भाग का एक अंश पार्थियन लोगों के हाथ में पड़ गया था जिनका साम्राज्य बहुत विस्तृत था और जिनके शासनाधीन कई मध्य एशिया स्थित देशों में बौद्ध धर्म का प्रचार कुछ पहले से ही होता आ रहा था। पार्थियन वंश के एक राजकुमार ने जिसका नाम शेकाओ अर्थात् लोकोत्तम मतलाया जाता है अपना राज्याधिकार अपने चचा को दे दिया और बौद्ध भिक्षुओं की दीक्षा ले ली। यह घटना ईसवी सन् की द्वितीय शताब्दी के लगभग मध्यकाल की है, जब चीन के राजा द्वारा बौद्ध धर्म का स्वागत किया जा चुका था। शेकाओ एक अच्छा विद्वान् भी था और वह बौद्ध धर्म के कई मूल ग्रन्थों को लेकर चीन की राजधानी में पहुँच गया। वहीं पर वह 'श्वेताश्व विहार' में जाकर ठहरा और वहीं रहकर उसने अनेक महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद चीनी भाषा में कराया। शेकाओ के आदर्श पर चीनी अनुवादकों का एक पृथक् संप्रदाय ही चल पड़ा। इसके अनंतर मध्य एशिया के कतिपय सोगदी लोगों ने भी उसका अनुकरण किया।

सैंगहुई ऐसे सोगदी लोगों में सबसे अधिक प्रसिद्ध हुआ। उसी ने दक्षिणी चीन में, सर्वप्रथम, सुव्यवस्थित प्रकार आरंभ किया। उसके माता-पिता भारत में भी रहे चुके थे और यहीं से वे टोंकिन गये।

जहाँ, ईसवी सन् की तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण में उसका जन्म हुआ। टोंकिन में कुछ दिनों तक रहकर सैगहुई अंत में नैकिंग पहुँचा, जहाँ पर एक बौद्ध विहार की स्थापना करके उसने अपना एक पंथ चला दिया। मध्य एशिया के यू-ए-ची शासकों द्वारा चीनी दरबार में कतिपय धर्मग्रन्थों को समर्पित किये जाने की चर्चा पहले ही की जा चुकी है। ईसा की द्वितीय तथा तृतीय शताब्दियों में भी यू-ए-ची धर्म-प्रचार अन्धी संख्या में चीन पहुँचे। ऐसे लोगों में सर्व प्रसिद्ध धर्मरथ ■ जो तृतीय शताब्दी के मध्यकाल में चीन गया और जो उन यू-ए-चियों का वंशज था जो चीन ■ सीमा पर ही बसे थे। उसने भारतीय शिक्षकों द्वारा ही बौद्ध धर्म की शिक्षा पायी थी और वह उनके साथ मध्य एशिया के अनेक प्रदेशों में यात्रा भी कर चुका था। पता चलता है कि वह छत्तीस विभिन्न भाषाओं का जानकार ■ जिनमें संस्कृत एवं चीनी भाषाएँ भी थीं। धर्मरथ भी अपने यहाँ से चीन की राजधानी पहुँचा और वहाँ रह कर उसने न केवल अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद किया, अपितु जीवन भर बौद्ध धर्म ■ प्रचार करता रहा धर्मरथ चीनी धर्मग्रन्थों के इतिहास में, 'फाई-हू' नाम से भी प्रसिद्ध है, जो वस्तुतः उसके संस्कृत नाम का ■ रूपांतर मात्र है।

बौद्ध धर्म के प्रचार में यू-ए-ची लोगों के सामन कुचियों का भी हाथ रहा और इन्होंने अपने प्रथम चौथी शताब्दी से आरंभ किये। चीन के एक सेनापति ने इसी समय कुची लोगों पर भावा किया और उसने प्रसिद्ध कुची बौद्ध विद्वान् कुमारजीव को सन् ४०१ ईसवी में बंधी बना लिया कुमारजीव के पिता कुमारायण एक भारतीय बौद्ध ■ जो किसी प्रकार कुची लोगों के देश अर्थात् उत्तरी मध्य एशिया तक यात्रा करके पहुँच गए थे। वहाँ पर वे अपनी योग्यता के कारण 'राजगुरु' के ■ पर समाहित हुए थे। उन्होंने ■ विवाह भी किसी राजकुमारी के ■ ■ ■ लिया था जिसका नाम 'जीवा' बतलाया

जाता है और जिसने अपने पुत्र कुमारजीव के जन्म-समय से बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया। कुमारजीव अपनी माता के साथ काश्मीर आये जहाँ उन्होंने बंधुदत्त नामक विद्वान् से बौद्ध दर्शन का गंभीर अध्ययन किया। वे फिर अपनी जन्म-भूमि की ओर लौट गये। उधर पूर्वी तुर्किस्तान के खोतन, काशगार, यारकंद आदि के बौद्धों में एक प्रकांड पंडित के रूप में विख्यात हो गये। अपनी इस प्रसिद्धि के ही कारण उन्हें चीनी सेनापति का बंदी बनकर चीन देश में आना पड़ा, जहाँ वे सन् ४१३ ईसवी तक जीवित रहे। कुमारजीव, अपनी गंभीर विद्वत्ता के कारण, धर्म-ग्रन्थों के अनुवाद-कार्य में बहुत अधिक सफल सिद्ध हुए। उनके अनेक शिष्य भी बन गए। वे इनसे प्रायः कहा करते थे “मेरे कार्य की ही अपना आदर्श बनाना मेरे जीवन की ओर उतना ध्यान न देना। कमल का फूल कीचड़ से उत्पन्न होता है, किन्तु कमल को ही महत्व दिया जाता है कीचड़ के साथ कोई प्रेम नहीं दिखलाता।”

बौद्ध धर्म के प्रचार में उस समय डेढ़ भारतीय विद्वानों ने भी बहुत भाग लिया। काश्मीर प्रांत उन दिनों बौद्ध धर्म के सर्वास्तिवादी लोगों का एक प्रमुख केंद्र था और कुषाण साम्राज्य के समय, यहाँ पर अन्य प्रांतों की अपेक्षा इस धर्म को कहीं अधिक सफलता मिली थी। ईसा की चौथी शताब्दी से यहाँ के बौद्ध विद्वानों ने मध्य एशिया की ओर आना आरंभ हुआ। संघभूति नामक एक बौद्ध पंडित वहाँ सन् ३८१ ईसवी में पहुँचे। उन्होंने वहाँ पर ‘विनय पिटक’ का चीनी अनुवाद किया। फिर सन् ३८४ ईसवी में ही वहाँ गौतमसंघ देव नामक एक और ऐसे विद्वान् गये जिन्होंने अभिधम्म साहित्य की ओर वहाँ के निवासियों का विशेष ध्यान दिलाया। सन् ३९१ ईसवी में वे दक्षिणी चीन के भाग की ओर भी पहुँचे, जहाँ सोगदी बौद्ध

पंडित सेंगहुई ने अपना एक संप्रदाय स्थापित कर दिया था। यहाँ से वे फिर लुशन तथा क्रमशः नैकिंग तक भी गये जहाँ के राजकीय कर्मचारियों पर उन्होंने अपना विशेष प्रभाव डाला। संघदेव के अनंतर चीन की ऐसी यात्रा करने वालों में पुययत्रात, धर्मयशस् आदि के भी नाम लिये जाते हैं। इनमें सबसे अधिक प्रसिद्ध बुद्ध यशस् हुए जिनके काश्मीरी ब्राह्मण पिता के विषय में कहा जाता है कि उन्हें बौद्ध धर्म के प्रति पहले कुछ भी आकर्षण नहीं था। एक बार उन्होंने किसी बौद्ध भिक्षु को पीट दिया जिसके परिणाम स्वरूप उनके हाथों में लकवे की बीमारी हो गई। इसका उनके ऊपर इतना प्रभाव पड़ा कि उन्होंने फिर उस भिक्षु को अपने यहाँ निमंत्रित कर उसका बड़ा आदर किया और उसे अपने तेरह वर्ष के लकवे उक्त यशस् को भी दे डाला। यही लकवा पीछे स्वयं एक बहुत बड़ा भिक्षु ■ गया और बौद्ध धर्म के प्रचार में इसने कई महत्वपूर्ण कार्य किये।

बुद्ध यशस् अपने प्रचार-कार्य के सम्बंध में १० वर्षों तक काशगार में रहे, जहाँ वे वहाँ के राजमंदिर में रहा करते थे। यहाँ पर उनसे कुमारजीव से चीन भेंट हुई जो कुची लोगों के देश की यात्रा कर रहे थे। कुमारजीव के चीन में पहुँचने पर, वे उनसे वहाँ भी मिले। इनके चीनी जीवनी लेखकों ने इनके चरित्र की महत्ता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। ■ काल के अन्य ऐसे काश्मीरी पंडितों में विमलाक्ष, बुद्धजीव, आदि भी प्रसिद्ध हैं। इनमें से बुद्धजीव प्राहियान के भी सहयोगी थे। इन दोनों से अधिक विख्यात गुणधर्म है जो काश्मीर के राजवंश में उत्पन्न हुए थे। बौद्ध धर्म ■ प्रचार करते समय इनसे अनुरोध किया गया कि ये भिक्षुओं के देश का परित्याग करके राजगढ़ी पर बैठें, किन्तु उन्होंने अस्वीकार कर दिया और वे घनघोर वनों में जाकर निवास करने लगे। वे वहाँ से फिर लंकाद्वीप गये जहाँ उन्होंने वहाँ के प्रचारकों का पद-प्रदर्शन किया। वहाँ से आगे जावा द्वीप तक बढ़ गये। जावा द्वीप में उस समय तक बौद्ध धर्म

जा चुका था। गुणवर्मन् ने जाकर वहाँ के राजा को इस धर्म में सपरिवार दीक्षित कर दिया और फिर वहाँ से ये आस-पास के द्वीपों में भी गये। इनका नाम वहाँ पर इतना प्रसिद्ध हो गया कि इन्हें अपने वहाँ बुलाने के उद्देश्य से सुदूर चीन के सम्राट् ने अपना आदमी भेजा। इस प्रकार सन् ४३१ ईसवी में चीन पहुँचे, जहाँ इनका अपूर्व स्वागत हुआ और सम्राट् ने इन्हें वहाँ के प्रमुख विहार जेतवन में ठहराया। इनके साथ उन दिनों एक अन्य काश्मीरी पंडित भी थे जिनका नाम धर्ममित्र था और जो ध्यान-साधनाका विशेष प्रचार करते थे।

■ समय बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ भारत के कतिपय अन्य प्रांतों के निवासियों ने भी चीन की यात्रा की थी। इनमें से धर्मक्षेत्र मध्य भारत के रहने वाले थे, जहाँ से वे कुची आदि जातियों के देशों से होते हुए पश्चिमी चीन तक पहुँचे थे। यहाँ रह कर प्रचार करने के लिए वे किसी बौद्ध शासक द्वारा रोक लिए गये और जब तक उन्होंने ऐसे नियंत्रण की अवहेलना की तो उनकी हत्या भी कर डाली गई। मध्य-भारत के ही एक दूसरे निवासी गुणभद्र भी थे जो पहले वहाँ से समुद्र द्वारा चीन के कैंटन नगर चले गये, जहाँ से वे उस देश की दक्षिणी राजधानी नैकिंग में भी पहुँचा दिये गये। पूर्वी भारत से इसी प्रकार ज्ञानभद्र, यशोगुप्त आदि एवं पश्चिमी भारत से उपशून्य तथा परमार्थ जैसे विद्वान् बौद्ध यात्री भी चीन गये थे। परमार्थ का एक अन्य नाम गुणरत्न भी था और वे पाटलिपुत्र में जाकर बस गए थे, जहाँ से राजाशा द्वारा वे भी निदेश भेजे गए थे। वे सन् ५४६ ईसवी में चीन पहुँचे थे और वहाँ रह कर उन्होंने लगभग सत्तर ऐसे ग्रन्थों के अनुवाद किये थे जो विभिन्न विषयों के ■। पश्चिमोत्तर भारत से चीन जाने वालों में भी ऐसे कई प्रचारकों के नाम लिये जाते हैं जिनमें सर्व प्रमुख बुद्ध भद्र थे, जिन्हें काश्मीर की बौद्ध जनता ने अपने वहाँ के सर्वश्रेष्ठ समझ कर चीन भेजा था। ये चीनी यात्री चेयेन के साथ

बर्मा से होते हुए चीन तक लगभग तीन वर्षों में पहुँचे और वहाँ कुमारजीव से मिले। ये बड़े ही स्वतंत्र प्रकृति के थे और किसी राजे-महाराजे के सहयोग की कभी चिन्ता नहीं करते थे। इनकी विद्वत्ता की धाक स्वयं कुमारजीव तक भी कम न थी। बुद्ध भद्र अपने को महात्मा गौतम बुद्ध के चाचा अमृतोदन का वंशज मानते थे और वे नगरहार (जलालाबाद) में उत्पन्न हुए थे। कहते हैं कि कोसल के राजा विरुधक द्वारा कपिलवस्तु के आक्रांत हो जाने पर वहाँ के कुछ शाक्यवंशी भारत के पश्चिमोत्तर प्रांतों में चले गए थे। बुद्ध की ही भाँति इस प्रकार के एक धर्म विमोक्षसेन भी थे जिनकी जन्मभूमि उज्जयिन (स्वात तराई) के प्रदेश में थी। ये अभिषम्भ के विशेषरूप से और इन्होंने सन् ५४२ ईसवी के आस-पास चीन के उत्तरी प्रदेशों में रह कर काम किया था।

जिनगुप्त एवं धर्मगुप्त भी ऐसे ही प्रचारकों में से थे। इनमें से प्रथम का जन्म पेशावर और दूसरे का काठियावाड़ के लाटदेश में हुआ था। जिनगुप्त चीन में उस समय पहुँचे थे, वहाँ की स्थिति काँबाडोल हो गई थी, इस कारण वे यहाँ खौट कर फिर दूसरी बार भी गये। धर्मगुप्त की विशेषता यह थी की वे अपनी चीन-यात्रा में बड़ी बिकट परिस्थितियों का सामना करते हुए आगे बढ़े थे। ये एक अनुभवही निरीक्षक भी थे। इन्होंने जिस देश वा प्रमुख स्थान का अनुभव प्राप्त किया उसके विषय में कुछ न कुछ बातें ये लिखित भी करते गये थे। इन्होंने अपनी यात्रा के विवरणों में मध्य एशिया सम्बंधी उन बातों तक की चर्चा की है, जिन्हें डेनसांग भी नहीं जान पाया था। इन दोनों यात्रियों के पश्चात् फिर कुछ धर्म प्रचारक नार्लंद विश्वविद्यालय से भी गये जिनमें प्रभाकर मित्र का नाम विशेष रूप से प्रसिद्ध है। प्रभाकर मित्र को अपनी यात्रा में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ केलनी पड़ीं और उनका अंत भी कदाचित् उत्साह-भंग होने पर ही हुआ। एक धर्मप्रचारक बोधिरुचि नाम के भी थे जो

दक्षिणी भारत की ओर से चीन गये थे। उन्होंने ५३ ग्रन्थों को अनुवादित किया था और बड़ी बुद्धावस्था तक पहुँच कर, ५५ दिनों का उपवास करने के उपरांत ये शक्ति पूर्वक मरे थे। शुभाकर सिंह, वज्र-बोधि, अमोघवज्र आदि कतिपय अन्य ऐसे धर्म प्रचारक भी थे जो यहाँ से समय-समय पर ज़ीन आदि देशों की यात्राएँ करते रहे और जिन्होंने वहाँ पहुँचकर बौद्ध धर्म को सर्वसाधारण तक में प्रचलित करने का सफल प्रयत्न किया। देश में [] दिनों तक उपद्रव उठ जाने के कारण ऐसे यात्रियों के कार्य में बाधा पहुँचने लगी और जहाँ तक पता चलता है, सन् १०३६ ईसवी के अनंतर इस प्रकार के प्रचार कार्य को स्थगित कर देना पड़ा।

प्रसिद्ध चीनी यात्री हसिंग के यात्रा-विवरण से चलता है कि सातवीं शताब्दी तक बहुत से यात्री चीन से भी भारत आ चुके थे। केवल तीसरी शताब्दी के मध्यकाल में ही, युजन एवं बर्मा के मार्ग से बीच तीर्थ-यात्री यहाँ आये थे। चौथी शताब्दी के अनंतर चीन में इस प्रकार की यात्राओं को विशेष महत्व दिया जाने लगा। भारतीय बौद्ध धर्म की संस्कृति का अध्ययन चीनियों के लिए एक प्रमुख कर्तव्य सा बन गया। इस ओर विशेष प्रयत्नशील होने वालों में सर्वप्रथम नाम ताओगन का लिया जाता है, जिसने इस कार्य को अपने जीवन का परम लक्ष्य बना लिया था। उसकी मृत्यु के अनंतर चीन में एक नवीन जागृति-ची दीख पड़ने लगी और चौथी शताब्दी के अंतिम वर्षों तक इस ओर अनेक चीनियों ने अपना ध्यान देना आरंभ कर दिया। इनमें सर्व प्रमुख चीनी तीर्थ यात्री फ़ाहियान था जिसने अपनी भारत-यात्रा सन् ३६९ ईसवी में आरंभ की। फ़ाहियान वहाँ अपने चार भिक्षु मित्रों के साथ खोतन के मार्ग से चला था। वह पूर्व की ओर बंगाल प्रांत के समुद्र-तट तक यात्रा करता हुआ पहुँचा। वहाँ से समुद्र-मार्ग से लंका द्वीप गया, वहाँ से भी फिर जावा चला गया। जावा से वह अंत में, सन् ४१४ ईसवी के किसी समय चीन लौटा।

उसने अपनी यात्रा की कठिनाइयों तथा भारतीय धर्म एवं संस्कृति का एक सजीव चित्रण प्रस्तुत किया है। फ्राहियान को संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान था और उसने बौद्ध धर्म के 'विनय-परक सिद्धांतों' का अत्यंत गंभीर अध्ययन किया था।

फ्राहियान के अनंतर और भी अनेक चीनी तीर्थ-यात्री आये, किन्तु उनमें सबसे अधिक समय तक वहाँ हेनसंग ही ठहरा। हेनसंग सन् ६२९ ईसवी में भारत की ओर प्रस्थित हुआ था। उसने भी उत्तर पश्चिम के मार्ग से ही यहाँ प्रवेश किया था। मार्ग में, आते समय, उसे ऐसे तुर्की शासकों के प्रदेशों से भी होकर यात्रा करनी पड़ी जो इसके पहले प्रभाकर मित्र जैसे भारतीय बौद्ध-यात्रियों द्वारा प्रभावित हो चुके थे। भारत में उसे संयोगवश दो शक्तिशाली नरेंद्रों का सहयोग उपलब्ध हो गया जिनमें से एक सम्राट् हर्ष थे और दूसरे असम के भास्कर वर्मन थे। वह पाँच वर्षों तक नालंद विश्वविद्यालय में भी रहा जहाँ उसने शीलभद्र से विद्वानवाद जैसे कठिन विषय का अध्ययन किया। वह अपनी सोलह वर्षों की यात्रा के अनंतर सन् ६४५ ईसवी में चीन लौटा। अपने देश में पहुँचने पर भी वह यहाँ से पत्र व्यवहार करता रहा। उसने अपनी यात्रा का विवरण 'सि-यू-कि' के नाम से प्रस्तुत किया और अपने अंतिम दिनों तक व्यस्त रहकर सन् ६६४ ईसवी में [] []। उसके चीन लौट जाने पर वहाँ के सम्राट ने सम्राट् हर्ष के दरबार में अपना एक राजदूत भी भेजा जिसका नाम लि-पि-याओ था। उसने इसी प्रकार अपना राजदूत मगध के दरबार में भी भेजा और यहाँ पर अन्य कई यात्रियों का भी आगमन हुआ। हेनसंग का यात्रा-विवरण तत्कालीन भारत के इतिहास के लिए अत्यंत अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करता है और उसे तदनुसार महत्व भी दिया जाता है।

हेनसंग जैसे महान चीनी यात्रियों के साथ ईस्तिंग का भी नाम लिया जाता है जिसका उल्लेख इसके पहले हो चुका है। ईस्तिंग के

लिए प्रसिद्ध है कि चीन के बौद्ध विद्वानों में वह केवल ह्वेनसंग से ही कुछ कम योग्य रहा होगा। ईस्वीग की भारत-यात्रा सन् ६७१ ईसवी में आरंभ हुई थी, किन्तु यहाँ पर सुमित्रा द्वीप से होता हुआ पहुँचा था। वह १० वर्षों तक नालंद में अध्ययन करता रहा और जब सन् ६९५ ईसवी में वह चीन लौटा तो उसके पास प्रायः चार सौ संस्कृत ग्रन्थों की हस्तलिखित प्रतियाँ सुरक्षित रहीं। उसकी प्रमुख रचनाओं में मूल सर्वास्तिवाद-सम्बन्धी एक ग्रन्थ का अनुवाद एवं संस्कृत-चीनी शब्दकोश विशेष रूप से उल्लेखनीय है। ईस्वीग के अनंतर जो चीनी यात्री यहाँ आये उनके नाम बहुत प्रसिद्ध नहीं हैं। यहाँ पर केवल ह्वेनसांग की चर्चा की जा सकती है जो अपने देश से, सन् ७५१ ईसवी में, उस समय चला था जब कि वह स्वयं बौद्ध धर्म का अनुयायी नहीं था। उसने मार्ग में इस धर्म को स्वीकार किया और फिर बहुत दिनों तक ह्वेनसांग के नगरों में भ्रमण करता हुआ अपने देश को लौट सका। इस समय तक चीन में बौद्ध धर्म का बहुत कुछ प्रचार हो चुका था। दोनों देशों के बीच आने-जाने का एक ऐसा दृढ़ सम्बंध स्थापित हो चुका था जिसका किसी भी प्रकार टूटना असंभव था। चीन देश ने बौद्ध धर्म को क्रमशः अपने निजी धर्म के रूप में अपना लिया और इसका विकास वहीं प्रायः स्वतंत्र रूप में होने लगा। इस परिणाम तक उसके पहुँचने में दोनों देशों के उपर्युक्त यात्रियों ने उसके साथ कितना हाथ बँटाया होगा इसका निश्चित अनुमान किया जा सकता है। कहते हैं कि ईसा की छठी शताब्दी तक ही चीन के उत्तर पश्चिम वाले प्रायः सभी प्रांतों में बौद्ध धर्म को किसी न किसी रूप में स्वीकार करा लिया था।

फिर भी उस समय तक यह धर्म अधिकतर उच्च वर्ग के लोगों के ही अध्ययन एवं अनुसरण का विषय समझा जाता रहा। उक्त निजी धर्म के रूप में यह उस देश से परिणत होने लगा, जब सन् ५२० ईसवी में चीन पहुँचने वाले बोधिधर्म नामक कंजीवरम् (मरास) के

निवासी एक भारतीय ने वहाँ अपना प्रचार-कार्य आरंभ किया। फलतः उससे एक नये संप्रदाय की स्थापना हो गयी। चीनी बौद्ध धर्म को फिर सबसे अधिक प्रोत्साहन तांग वंशीय राजाओं के शासन-काल (सन् ६२०-९०७) में भी मिला। इस [] से यह धर्म वहाँ पर पूर्ण रूप से जम गया। इस पर यदि कभी कोई आघात पहुँचा तो वह उसी समय जब वहाँ के शासकों का अपना धर्म कन्फ्यूशियन अथवा किसी अन्य प्रकार का हो जाता रहा। वे इसकी उत्पत्ति की ओर से उदासीन हो जाते रहे। मिंगवंशीय शासकों के युग (सन् १३६८-१६४४ ईसवी) में बोधिधर्म द्वारा प्रवर्तित उक्त 'चान' संप्रदाय अपनी उत्पत्ति के शिखर पर पहुँच गया। इसके अनंतर मंचुओं के शासन-काल में इसे समुचित प्रोत्साहन नहीं मिल सका और कन्फ्यूशियन धर्म को अधिक महत्व दिया जाने लगा। फिर भी, जैसा यहाँ के बौद्ध धर्म के अंतर्गत प्रतिष्ठित होने वाले विविध संप्रदायों तथा उप-संप्रदायों के इतिहास से पता चलेगा इसके केवल वाक् रूपों में ही कुछ परिवर्तन होकर रह गया। इसकी मूल प्रवृत्तियों में कोई ऐसा विपर्यय नहीं हुआ जिससे यह वहाँ से समूल नष्ट हो जाय। कुछ संप्रदाय भारतीय बौद्ध धर्म-ग्रन्थों के आधार [] स्थापित हुए। अन्य ऐसे थे जिनका भी कुछ न कुछ सम्बंध भारतीय विचारधारा से ही था।

चीन देश के इन संप्रदायों में से केवल दो ही ऐसे [] जिनमें वेरवाद अथात् हीनयान के सिद्धांतों का, सम्यक् प्रकार से अध्ययन किया जाता है। शेष का सम्बंध महायान के साथ अधिक स्पष्ट है और कुछ ऐसे भी हैं जो पूर्णरूप से स्वतंत्र समूह पड़ते हैं। हीनयान से सम्बंधित इन दोनों संप्रदायों में से एक का नाम 'लुत्सुंग' है और दूसरे का 'चैंगशिहत्सुंग' है। 'लुत्सुंग' का प्रमुख आधार 'विनय पिटक' है। ग्रन्थों अथवा वादों पर आश्रित संप्रदायों में से बहुत से महायान संप्रदायों से सम्बद्ध हैं। 'हुआएनत्सुंग' एक ऐसा संप्रदाय है जिसका आधार

‘अवतंसक सूत्र’ है। ‘विपिन-ताइस्तुंग’ एक दूसरा है जो ‘सद्धर्मपुञ्जरीक सूत्र’ पर आधारित है। इसी प्रकार ‘सानलुन’ का स्पष्ट सम्बंध नगार्जुन के ‘माध्यमिकवाद’ से है, जहाँ ‘धर्मलक्षण’ योगाचार के मत का अनुसरण करता है। चीन का एक अन्य संप्रदाय ‘चेन-येन’ भी है जिसे हम भारतीय मंत्रयान पर आधारित कह सकते हैं, किन्तु जिस पर कुछ ग्रंथों में तिब्बतीय मंत्र-साधना का भी प्रभाव पड़ चुका है। यह संप्रदाय चीन देश में, ईसा की आठवीं शताब्दी में पहुँचा था और यह क्रमशः चारों ओर फैल गया। इन संप्रदायों ने भारतीय विचारधारा का मनन अधिकतर पूर्वागत परंपरानुसार ही किया और उसी के सहारे इन्होंने आगे की ओर भी प्रगति की। इनमें कोई ऐसी विशेषता लक्षित नहीं होती जिनके कारण इन्हें किसी प्रकार स्वतंत्र भी समझा जाय।

चीन देश में महायान संप्रदाय द्वारा प्रभावित, किन्तु उससे कुछ दूर तक भिन्न एवं स्वतंत्र रूप में प्रतिष्ठित, संप्रदाय ‘लुशान’ के नाम से जुड़ा हुआ है जो, वास्तव में, एक पहाड़ी भूमि है, जहाँ बौद्ध भिक्षु प्रायः साधना किया करते थे। यहाँ पर ‘हुई युशान’ द्वारा स्थापित एक मठ वर्तमान ■ जिसके प्रारंभिक रूप का निर्माण ईसवी सन् के ३८१ वें वर्ष में हुआ था हुईयुशान ताओगन का शिष्य था जिसकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। उससे दीक्षित होने के लिए चीनी एवं भारतीय साधक भी एकत्र होने लगे। हुई युशान के १२३ शिष्य थे जिनमें से केवल १७ को चुनकर उनके साथ उसने अपना ‘श्वेत कमल का संप्रदाय’ चलाया। इसे चीनी भाषा में ‘पोलिपनशु’ कहा जाता है। उसके १७ शिष्यों में दो भारतीय विद्वान थे जिनमें से एक काश्मीर निवासी बुद्धयशस्त्रु थे और दूसरे शाक्यवंशीय बुद्ध भद्र थे जिनकी चर्चा इसके पहले भी की गयी है। हुईयुशान के इस संप्रदाय ने चीन देश में पहले पहल अमिताभ की उपासना बतलायी। वह संस्कृत भाषा का एक बहुत बड़ा पंडित था। कुमारजीव के साथ उसका

पत्र-व्यवहार बहुत दिनों ■■■ चलता रहा था, संस्कृत ग्रन्थों की खोज में उसने अपने अनेक शिष्य भेजे थे। हुई युआन द्वारा प्रचलित की गयी बोधिसत्व श्रमिताभ की उपासना इतनी जनप्रिय हुई की इसका प्रभाव चीन के अन्य कई संप्रदायों पर भी बिना पड़े नहीं रह सका और वे क्रमशः एक प्रसिद्ध देवता के रूप में पूजे जाने लगे। यह संप्रदाय भारतीय महायान से कई बातों में स्वतंत्र था। हुई युआन के अनुयायियों में से बहुत ऐसे थे जिन्होंने उसके संप्रदाय में ■■■ सुधार भी किये। तदनुसार उसके आधार पर, अंत में, 'चिंगतु मत' अर्थात् 'पवित्रधाम वाले संप्रदाय' का प्रचार भी होने लगा जिसके लिए धर्म-ग्रन्थों का महत्व प्रायः ■■■ भी नहीं रह गया। यह संप्रदाय शुद्ध आस्तिक भाव का समर्थक था जिस कारण इसने चीनी जनता के सर्वसाधारण अंगों को भी आकृष्ट कर लिया।

चीन देश का एक अन्य ऐसा ही संप्रदाय 'चान' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। 'चान' शब्द संस्कृत शब्द 'ध्यान' का रूपांतर है और इसका मुख्य अभिप्राय ध्यान पूर्वक किसी वस्तु की तरह ■■■ पहुँच जाने से है। यह संप्रदाय अपने प्रारंभिक रूप में, कंजीवरम् (महास) के निवासी बोधिधर्म द्वारा स्थापित किया गया ■■■ जिसके नाम का उल्लेख इसके पहले भी किया जा चुका है। 'चान' संप्रदाय का दार्शनिक आधार शून्यता की भावना में निहित है। इसकी प्रमुख साधना एक मनोवैज्ञानिक तथ्य की ओर संकेत करती है। बोधिधर्म के लिए प्रसिद्ध है कि वे गौतम बुद्ध से २८ वीं पीढ़ी में ■■■ हुए थे। उनकी प्रतिष्ठा देव रूप में की जाती है। चीनी बौद्धों के धार्मिक ग्रन्थों में उनकी अनेक सिद्धियों के विवरण पाये जाते हैं और उनके चमत्कारी में अद्भुतताओं को पूर्ण विश्वास भी है। इस संप्रदाय के ध्यान योग में विश्व के सभी ■■■ पदार्थों को भावना का परित्याग ■■■ एकमात्र स्वयं अपने शुद्ध मनोव्यापार पर ही ध्यान को केंद्रित करना पड़ता है। इसी के अंतिम परिणाम के ऊपर अपने लक्ष्य की सिद्धि का

निर्भर रहना भी बतलाया जाता है । फलतः इसे हम केवल 'शून्य' का ध्यान भी कह सकते हैं जो वास्तव में, बौद्ध के निर्वाण विषयक धारणा का भी परिचायक है । नागार्जुन के शून्यवाद एवं अतंग तथा नहुवंधु के योगाचार सम्बंधी दर्शनों ■ इस पर अपने अपने ढंग से विभिन्न विचार प्रकट किये गये हैं ।

बोधिधर्म के शिष्यों में दो बहुत प्रसिद्ध हुए जिनमें से एक का नाम 'हुई सी' या और दूसरे का 'चिकाई' या । इनमें से पहले ने जहाँ अपने गुरु के मूल मत का प्रचार किया, वहाँ दूसरे ने उसके आधार पर 'तियेनताइ' नामक एक नवीन संप्रदाय की स्थापना की । चिकाई का जन्म ५३१ ईसवी हुआ था । उसने सर्वप्रथम, बोधि धर्म द्वारा बतलाये गये ध्यान योग का ही अभ्यास किया था । किन्तु जब वह नैकिंग से बाहर तियेनताइ की उपत्यका में जाकर बौद्ध धर्म के प्रामाणिक ग्रन्थों का गंभीर अध्ययन कर चुका तो उसे बहुत सी बातें सूझ पड़ीं । उसने उनमें उपलब्ध अनेक असंगतियों में समन्वय लाने का भी प्रयत्न किया । उसका कहना था कि 'दार्शनिक सिद्धांतों में सर्वत्र मतभेद देख पड़ते हैं, किन्तु फिर भी सबका अंतिम उद्देश्य परम सत्य को प्राप्त करना ही रहा करता है । साधना चाहे जिस प्रकार की हो सत्य की अभीष्ट उपलब्धि का पूरा हो जाना ही वास्तविक महत्व रखता है और विभिन्न मार्गों के मतभेदों में समन्वय भी लाया जा सकता है ।' तदनुसार उसने तयागत के मूल उपदेशों का अध्ययन, उनके क्रमिक विकास की दृष्टि से किया । वह इस परिणाम पर पहुँचा कि हीनयान एवं महायान के मूलभूत सिद्धांतों में कोई वास्तविक वैषम्य नहीं है, प्रत्युत महायान में बौद्ध धर्म की अंतिम परिणति का रूप लक्षित होता है । उसने लुशन की भी यात्रा की और वहाँ पर युआन द्वारा

प्रवर्तित संप्रदाय का भी अध्ययन किया। चिक्राह के संतव्यों का मैं चीन इतना बड़ा प्रभाव पड़ा कि हीनयान के प्रति [] काल तक प्रदर्शित किये जाने वाले नैमनस्य, का भाव क्रमशः लोप हो गया। गौतम बुद्ध की शिक्षा का काल-क्रमानुसार, सिद्धांतानुसार तथा व्यावहारिक दृष्टि [] भी सांगोपांग अध्ययन करना आवश्यक समझा जाने लगा।

ईसा की सातवीं के प्रारंभिक दिनों से ही चीन में प्रचलित बौद्ध धर्म के इतिहास में नवीनता दीख पड़ने लगी थी। तांगवंशी सम्राटों के प्रयत्नों द्वारा सारे देश के एक सूत्र में बद्ध हो जाने के कारण उसके स्वर्ण युग का अवसर उपस्थित हुआ। किन्तु इसी समय वहाँ के बौद्ध धर्म की प्रगति में बहुत बड़ी बाधाओं की भी आशंका होने लगी और इसके कतिपय विरोधियों ने अपना प्रचार आरंभ कर दिया। फु-ची (सन् ५५३-६३६) जो इस आंदोलन का नेतृत्व कर रहा था वह एक प्रभावशाली व्यक्ति था और उसने स्वयं सम्राट को भी उभाड़ना चाहा, किन्तु उसे अपने प्रयत्नों में पूरी सफलता नहीं मिल सकी। बौद्धों का दमन-चक्र केवल कुछ काल तक ही चलकर बंद हो गया। उस काल के शासकों ने बड़ी दूरदर्शिता से काम लिया और अपने पड़ोसी बौद्ध राज्यों की नीति एवं हनेसंग जैसे बौद्ध यादियों के उद्योगों के महत्व को ध्यान में रखते हुए उन्होंने अपने दमन-चक्र को अधिक समय तक चलाना उचित नहीं समझा। हनेसंग स्वयं योगाचार के सिद्धांतों का समर्थक था और एक [] महायानी था, किन्तु उसने तियेनताइ संप्रदाय के प्रति भी सहानुभूति दर्शाया। उसके अपने निजी [] का नाम 'धर्म लक्ष्य' था जिसके अनुसार 'विज्ञान' ही एक मात्र सत्य [] और [] सभी [] अमार्त्यक है। किन्तु उसके द्वारा एक नूतन नवीन मत की भी स्थापना हुई जिसे 'कि-उ-शे' अर्थात् 'कोश' नाम दिया जाता है। यह शब्द संस्कृत शब्द 'अभिधम्म-कोश' का संक्षिप्त रूप है जो हीनयान के सर्वास्तिवाद संप्रदाय के सिद्धांतों के परिचायक प्रसिद्ध ग्रन्थ का भी नाम है। हनेसंग के एक शिष्य ताओ

सिद्धाचार्य ने भी इसी प्रकार, एक अन्य नवीन मत की स्थापना की जो 'लिंग' अथवा विनय संप्रदाय के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस संप्रदाय का प्रमुख उद्देश्य नियमित आचरणों का प्रचार करना था।

चीन के बौद्ध धर्म पर भारतीय तंत्रज्ञानों अर्थात् वज्रयान, काल चक्रयान एवं सहजयानादि का प्रभाव भी बिना पड़े नहीं रह सका। प्रसिद्ध है कि ऐसे मतों का वहाँ प्रचार करने वाले वज्रबोधि एवं श्रमोभ-
 — ये, जो भारत से ही गये थे। इन्होंने वहाँ पर त्रिस संप्रदाय की स्थापना की उसके अनुसार काय, वाक् एवं मन इन तीनों के रहस्यों के महत्व का ज्ञान हो जाना सभी के लिए आवश्यक है। यदि इस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि से पूर्ण मानसिक विकास हो जाय तो कोई भी बुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है। चीन में इस मत ने वहाँ के कन्फ्यूशियन धर्म को भी बहुत प्रभावित किया और उसमें, इसके कारण, कतिपय नवीन विचारों का समावेश हो गया। किन्तु इसका, वहाँ पर एक नितांत विपरीत परिणाम भी दील पड़ने लगा। इसके कारण, बौद्ध धर्म की अव्यवस्था भी आरंभ हो गयी। बौद्ध धर्म का स्वरूप जो अभी तक सामुदायिक संगठनों के आधार पर प्रतिष्ठित था, क्रमशः व्यक्तिगत महत्व का पोषक बन गया और लींग-वंशी सम्राटों के अंतिम शासन-काल से लेकर सोंग-वंशी शासकों के प्रारंभिक दिनों तक ही इसका पूरा परिणाम स्पष्ट हो चला। फिर भी इस धर्म को वहाँ जैसे दिन देखने को नहीं मिले, जैसे भारत में मिल चुके थे। यह वहाँ पर आज भी सजीव बन कर ही वर्तमान है।

बौद्ध धर्म चीन से कोरिया की ओर, सर्वप्रथम, उसकी लिपि के ही साथ, सन् ३७२ ईसवी के लगभग पहुँचा था। यह वहाँ पर कई शताब्दियों तक प्रचलित रहा, किन्तु कन्फ्यूशियन धर्म अधिक प्रभाव पड़ जाने के कारण, इसमें वहाँ पर कोई विशेष उत्थिति नहीं हो सकी। इसे 'सिला' के राज्य-काल में अधिक शक्ति-अदृष्ट करने का अवसर मिला जब कि वहाँ के शासक ने सन् ५२८ ईसवी में स्वयं

इसे ■■■ लिया। इस समय कोरिया ■ भारत, तिब्बत एवं एशिया के अन्य भागों के साथ व्यापारिक सम्बंध भी अच्छी दशा में चल रहा था। बांग-वंश के राजाओं के शासन-काल में वहाँ ■ विहारों का भी निर्माण हुआ, किन्तु यह कम अधिक दिनों तक स्थायी न रह सका। सन् १२५० ई० के अनंतर इसे विपन्न होकर हासोन्मुस भी बन जाना पड़ा और इसके विरुद्ध दमन-चक्र तक चलने लगा। किन्तु इसका ■ परिणाम यह हुआ कि अनुयायियों की संख्या-वृद्धि के रुक जाने पर भी, इसके सच्चे साधकों के उत्साह में कमी कमी नहीं आ सकी। कोरिया में बौद्धों के 'विनय' अथवा आचरणवाद को सर्वाधिक महत्व दिया गया जो आज तक भी वहाँ की विशेषता के ■ प्रतिष्ठित है। फिर भी बौद्ध धर्म के इतिहास में कोरिया को एक महत्व इस कारण भी दिया जाता ■ कि उस धर्म का प्रचार यहीं से जापान में भी हुआ था। प्रथम महायुद्ध के अनंतर, इस देश पर अधिकार कर लेने ■ जापानियों ने ■ धर्म का वहाँ एक बार पुनरुत्थान भी कर दिया है।

बौद्ध धर्म ■ कोरिया से जापान में सन् ५५२ ई० में प्रवेश किया और प्रारंभिक दिनों में इसे कुछ विरोधों का भी सामना करना पड़ा। किन्तु इसके प्रचारकों को पीछे प्रसिद्ध शोटोकू तैशी (सन् ५६३-६२२) जैसे महान् पुरुष की ओर से बल मिल गया और ये फूलने-फलने लगा। इन्होंने अपने वहाँ नारा नामक नगर को सुव्यवस्थित ■ दिया और सन् ६०७ ई० में होयुंजी नामक एक बौद्ध मंदिर भी तैयार कराया। इसके सिवाय इन्होंने 'सद्धर्मपुण्डरीक', 'विमल कीर्ति सूत्र' एवं 'श्रीमल सूत्र' पर भाष्यों का भी निर्माण किया। शोटोकू तैशी ने इस प्रकार, जापान ■ बौद्ध धर्म के जमने में अच्छी सहायता की और उनके कारण वहाँ के राज-कर्मचारियों तथा प्रजा-वर्ग में भी उत्साह बढ़ा। जापानी बौद्ध धर्म की प्रायः सभी शाखाएँ चीन अथवा कोरिया की ओर से आयी हैं; केवल निचिरेन एवं शिन इसके अप-वाद हैं। इन सभी पर सम्यानुसार कमी शितो और कमी कन्म्यु-

शियन बर्मों का प्रभाव पड़ता रहा है। चीन में बौद्ध धर्म के लिए राजकीय सहायता अपेक्षित नहीं समझी गयी थी, किन्तु जापान में इसे स्पष्टरूप में ऐसा प्रभय मिलता गया। जिस प्रकार लंका द्वीप, श्याम एवं बर्मा को हम येरवाद मत का बौद्ध देश कहते हैं, उसी प्रकार जापान भी महायानी बौद्ध धर्म का देश कहला सकता है। चीन देश में यह धर्म बड़े व्यापक ■ में प्रसरित हुआ, किन्तु यह कमशः वहाँ की प्राचीन धार्मिक संस्कृति के प्रभाव में विलीन भी होता जा रहा है। जापान ही उधर एक ऐसा देश है, जहाँ महायान के प्रत्येक पार्व के अवशिष्ट अंश आज तक विद्यमान कहे जा सकते हैं।

जापान में प्रवेश करते समय बौद्ध धर्म का कोई निश्चित रूप नहीं था और जिस समय से चीनी बौद्ध पण्डितों का जापान जाना तथा इसी प्रकार, जापानियों का चीन जाना आरंभ हुआ तब से इस धर्म के दो भिन्न-भिन्न रूप भी दीख पड़ने लगे। किन्तु शोटोकू जैसे महापुरुषों की छत्रछाया में रहते आने के कारण, उन दिनों वहाँ में किसी प्रकार के संघर्ष का अवसर नहीं मिला। जान पड़ता है कि चीन की ओर से यहाँ पर पाँच विभिन्न संप्रदायों का प्रवेश हुआ जो नारा नगर की राजधानी ■ ही प्रतिष्ठित हुए। इनमें से कुश, जोजित्सु एवं विनय नामक संप्रदाय ऐसे ■ जिनका मूल सम्बंध येरवाद के साथ था। चीन में जो बौद्ध संप्रदाय 'कि-उ-शे' अर्थात् 'कोश' ■ नाम से प्रसिद्ध था वही जापान में आकर 'कुश' नाम से अभिहित किया जाने लगा। यह 'अभिघम्मकोश' पर आश्रित था। जोजित्सु का भी सम्बंध, इसी प्रकार, हीनयानियों के सौत्रांतिक संप्रदाय के साथ रहा और इसे 'सत्यसिद्धि' का नाम भी दिया गया। इस संप्रदाय के मूलप्रवर्तक हरि-वर्मा नाम के एक भारतीय पुरुष थे जो मध्य भारत के निवासी थे। उन्होंने 'सत्यसिद्धि शास्त्र' की रचना की थी। इस ग्रन्थ का मूल संस्कृत रूप उपलब्ध नहीं है। इसके केवल चीनी एवं तिब्बती अनुवाद ही मिलते हैं। हरि वर्मा ने सर्वास्तिवादियों के ■ का संबन्ध

किया ■ और इस प्रकार, वे ठक कुश संप्रदाय के भी विरोधी हैं। जापान का विनय अथवा रित्सु नामक संप्रदाय चीन के लुत्सुंग संप्रदाय का ही जापानी संस्करण है और इसमें बौद्धों के आचरणवाद को महत्व दिया गया है।

चीन से जापान में आये हुए महायानी संप्रदायों में से भी कभी-कभी केवल तीन के ही नाम लिये जाते हैं। इनमें से एक 'होसो' नाम का है, जो चीन में 'योगाचार' अथवा 'धर्म लक्षण' के भी नाम से प्रसिद्ध था और जिसका केंद्र होर्युजी के बौद्ध मंदिर में प्रतिष्ठित है। एक दूसरे ऐसे संप्रदाय का नाम 'सानरोन' है जिसका मूल आचार माध्यमिक सूत्र है, किन्तु जिसके मूल चीनी रूप का स्पष्ट पता नहीं चलता। नारा नगर के अंतिम बौद्ध संप्रदाय का जापानी नाम 'केगोन' है, जो चीन के 'अवतंसक सूत्र' पर आधारित 'हुआयेनत्सुंग' का प्रतिनिधित्व करता है। यह संप्रदाय जापान में वस्तुतः होसो के आधार पर ■ विकसित हुआ था और इसका प्रधान केंद्र 'शोदाइ जी' नामक बौद्ध मंदिर है। इस मंदिर के लिए कहा गया है कि इतना ■ एक ही ■ का बना हुआ भवन अन्यत्र कहीं भी नहीं है। केगोन संप्रदाय के अनुसार यह सारा विश्व 'सियांगची' एवं 'सियांगजु' के सम्बंध सूत्रों के आधार पर हमारे पूर्ण अनुभव में आ सकता है। सभी पदार्थ दिशा एवं काल के प्रमात्मक इंद्रबालों के प्रभाव में, हमें पृथक् जान पड़ते हैं। किन्तु तथ्य यह है कि उनमें से सभी एक दूसरे में अनुत्पृष्ठ और एक दूसरे पर अन्वोन्याग्रय भी ■। इंद्र के स्वर्गीय महल में जो अमूल्य रत्नों का बना 'इंद्रजाल' टँगा ■ उसका प्रत्येक रत्न दूसरे में एक ही प्रकार प्रतिबिम्बित होता रहता है। अतएव किसी भी एक रत्न को उस जाल से पृथक् करने पर हमें उसमें एक ही साब सारा जाल और प्रत्येक रत्न भी प्रतिबिम्बित मिलता है। प्रत्येक क्षण में अनंतकाल विद्यमान ■ और तदनुसार हमारे प्रत्येक जीवन में नित्यता भरी है। दिक् तत्त्व की दृष्टि से देखने पर भी पता चलता है कि

प्रत्येक क्षेत्र विंदु बिन्दु का केंद्र है और यह हमारे भीतर भी एक समान ही वर्तमान है। दिक् तत्त्व एवं काल तत्त्व स्वयं एक दूसरे ■ अनुस्यूत ■ ।

सन् ७८४ में किसी समय तत्कालीन जापान सम्राट् क्वामू ने अपनी राजधानी नारा से हटा कर अन्यत्र स्थापित की जो स्थान क्वोटो नाम से प्रसिद्ध हुआ। पता चला कि उस समय नारा के बौद्ध संप्रदायों में पारस्परिक मतभेद की भांजा ■ गयी थी जिसे वे दूर भी कर देना चाहते थे। उनके इस उद्देश्य की सिद्धि में दो जापानी बौद्ध विद्वानों ने अपने हाथ नैटाये और उन्होंने दो तदनुकूल संप्रदायों की भी स्थापना कर दी। सायचो अथवा जैंग्यो डायशी ने तेंदई संप्रदाय का प्रवर्तन किया और कुकई अथवा कोवो डायशी ने शिंगोन संप्रदाय चलाया। इन दोनों प्रचारकों के प्रयत्नों द्वारा जापानी बौद्ध धर्म में बहुत कुछ एकसूत्रता आ गयी और उसका सम्बंध राज्य के साथ भी दृढ़ हो गया। जैंग्यो डायशी का तेंदई संप्रदाय वस्तुतः चीनी तियेंताई का ही जापानी ■ है और उसकी जड़ें चीन देश के सम्बंध में इसके पहले भी की जा चुकी हैं। जैंग्यो ने नारा के संप्रदायों से सम्बंध-विच्छेद करके क्वोटो के निकट वर्तमान किसी एक पहाड़ी पर अपना मठ बनाया और वहाँ रहकर उसने 'सद्धर्मपुंडरीक' में निहित सिद्धांतों पर बहुत दिनों तक मनन किया। जापान के सम्राट् को जब उसके गंभीर अध्ययन का पता चला तो उन्होंने उसे विशेष अनुभव प्राप्त करने के लिए चीन में भेजा जहाँ के तियेंताई पर्वत पर उसने अपना निवास-स्थान बनाया। चीन से फिर लौटने पर ही उसने अपने तेंदई संप्रदाय की नींव डाली जिसमें उसने विभिन्न बातों का समन्वय भी कर दिया।

कोवो डायशी जैंग्यो का समकालीन था, किन्तु अवस्था में उससे छोटा था। वह एक प्रतिभाशाली पुरुष था और उसने अपनी युवावस्था में ही कन्फ्यूशियन धर्म, ताओ धर्म एवं बौद्ध धर्म का एक

तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया था। जैम्सो की चीन-यात्रा से प्रभावित होकर इसने स्वयं भी उसका अनुकरण किया और बहुत दिनों तक वहाँ की धार्मिक स्थिति का अध्ययन करता रहा। जापान लौट आने पर उसने कोया पर्वत को अपना प्रधान केंद्र बनाया और तत्कालीन राजनीतिक प्रभावों से अपने को पृथक् रखे रहा। इसने अपने शिगोन संप्रदाय के अंतर्गत उन सभी बातों का समावेश कर लिया जो भारत के तंत्रयान से सम्बंध रखती थीं। चीन देशीय बौद्ध धर्म की चर्चा करते समय पहले कहा जा चुका है कि किस प्रकार वहाँ पर वज्रबोधि एवं अभोधवज्र ने उसका प्रचार किया था। कोबो ने भी 'महा वैरोचन सूत्र' एवं 'वज्र शोखरसूत्र' का गंभीर अध्ययन करके उसके आधार पर अपना शिगोन संप्रदाय चलाया। चीन संप्रदाय का प्रभाव उतना गहरा नहीं पड़ा, जितना वह जापान में लक्षित हुआ और वह आज भी प्रायः उसी प्रकार विद्यमान है। तेंदई और शिगोन दोनों वहाँ एक दूसरे के पूरक रूप में काम करने वाले संप्रदाय सिद्ध हुए। दोनों ने बौद्ध धर्म को सर्वसाधारण तक पहुँचाया। तेंदई ने राजकीय सम्बंधों के कारण स्थानीय राजनीतिक विवादों में भी कुछ भाग लिया, किन्तु उसने इसके साथ ही उसमें धार्मिकता भी ला दी। शिगोन संप्रदाय वस्तुतः चीनी 'चेन येनत्सुंग' का ही एक पूर्ण रूप था और इसका अपने सुपरे रूप में एक बार फिर चीन देश में प्रचार हुआ।

चीन देश में जिस प्रकार 'चिंगडु' अर्थात् 'पवित्रधाम' का संप्रदाय स्थापित हुआ उसी प्रकार जापान में 'जोदो' संप्रदाय चला। इसका मूल आधार भारतीय महायान की इस धारणा पर आधारित है कि यदि भुद्ध के नाम से पुकारा जाय तो हमें 'सुखावती' धाम उपलब्ध हो जाय। सुखावती का वह काल्पनिक लोक है, जहाँ सभी प्रकार के सौख्य की प्राप्ति आप ही आप हो जाती है। यह उप-साधना की शिक्षा केवल उन व्यक्तियों को ही देना चाहता है जो उस

कल्पना में हृद् विश्वास रखते हों। इसी कारण, इसका प्रचार भोजे-माले लोगों में ही संभव ■। इस संप्रदाय के लिए किन्हीं धर्मसूत्रों के गंभीर अध्ययन अथवा मनन की आवश्यकता नहीं है। चीन का चिंगद् संप्रदाय ईसा की चौथी शताब्दी में ही स्थापित हुआ था, किन्तु जापान में इसका अधिक प्रचार क्यू शोनिन द्वारा उसकी दसवीं शताब्दी में हुआ। इस जोदो संप्रदाय को पूर्णतः सुव्यवस्थित रूप देने वाले होनेन शोनिन (सन् ११३३-१२१२) थे जिन्होंने इसकी स्पष्ट व्याख्या के लिए जापानी एवं चीनी में भी ग्रन्थ लिखे। उनका कहना था कि प्रत्येक साधक के लिए अमिताभ (अमिट) में अटूट भ्रष्टा का रखना और उसके प्रति आत्म-समर्पण का भाव अनिवार्य है। इसके लिए किसी प्रकार के दार्शनिक चिंतन अथवा पूजन-विधान की कोई आवश्यकता नहीं। जोदो संप्रदाय के अनुयायी अपने को अनेक पातकों से युक्त मान कर अमिट की शरण में जाते हैं और उनके नाम-स्मरण द्वारा उनसे मुक्त हो जाने में विश्वास रखते हैं। इस मत की कई बातें भारतीय वैष्णव धर्म की भक्ति-साधना वाले सिद्धांतों से मिलती-जुलती हैं। सुखावती विषयक धारणा में भी हमें 'वैकुण्ठ', 'भाकेत' अथवा 'गोलोक' जैसे स्वर्गीय धामों की कल्पना का सादृश्य दीख पड़ता ■ और उसे यहाँ अत्यंत आकर्षक रूप भी दिया गया है।

परंतु जिस प्रकार उक्त जोदो संप्रदाय के लिए भक्तियुक्तों की एकांतनिष्ठा अपेक्षित है, उसी प्रकार ज्ञेन संप्रदाय आत्म-निर्भरता का समर्थक है। 'ज्ञेन' शब्द जापानी है और यह क्रमशः चीनी 'चान' एवं संस्कृत के 'ध्यान' शब्दों का रूपांतर है। चीन के चान संप्रदाय की धर्चा इसके पहले की जा चुकी है और कहा जा चुका है कि किस प्रकार उसमें ध्यान-योग को महत्व दिया जाता है। जोदो संप्रदाय वालों को यदि, अपनी असमर्थता के कारण, दार्शनिक चिंतन अथवा अध्ययन की आवश्यकता नहीं पड़ती, वहाँ ज्ञेन वाले उसे अनावश्यक समझ कर छोड़ देते हैं। ज्ञेन जहाँ जिरिकी (निजी प्रयत्न) को ■

कुछ मानता है वहाँ बौद्धों मठ सारिकी (परा प्रयत्न) पर निर्भर हो जाने को ही पूर्ण महत्त्व प्रदान करता है। चीन देश में खान संप्रदाय के रूप में लगभग ५०० वर्षों तक विकसित हो चुकने पर यह वहाँ से जापान में पहुँचा। इसका अंतिम उद्देश्य बुद्धि ■ सहायता ■ लेकर केवल सहजावबोध द्वारा सत्य का अनुभव कर लेना है। बुद्धि के द्वारा किसी वस्तु के विषय में ■ अवश्य हो जा सकता है, किन्तु इससे उसकी प्रत्यक्ष अनुभूति नहीं हो पाती न, इसी कारण, हमें उसका पूरा बोध हो जाता है। इसके लिए पहले प्रत्येक वारुद्धा का पूर्ण परित्याग हो जाना चाहिए। हमारा चित्त इतना ■ एवं निर्मल हो जाना चाहिए जिससे अभीष्ट पदार्थ पूर्ण रूप में ग्रहण किया जा सके। इस सम्बंध में एक उपयुक्त प्रसंग का उल्लेख कर देना कदाचित् अनुचित नहीं ■ जा ■। दो भिक्षु कहीं से अपने मठ की ओर लौट रहे ■। मार्ग में एक नाला मिला जिसके जल में अपने कपड़े धोने के भय से कोई सुंदर बालिका उसके किनारे खड़ी थी। उनमें से एक भिक्षु ने उसे अपनी गोद में उठा लिया और उसे नाले के दूसरे पार कर दिया। किन्तु दूसरे को यह बात अनुचित जान पड़ी और वह इसे मीलों तक सोचता रहा। इसके प्रश्न करने पर प्रथम भिक्षु ने उत्तर दिया “क्यों! उस लड़की को तो मैंने वहीं छोड़ दिया, ■ तुम उसे अभी तक अपने साथ लिये जा रहे हो!”

जैन संप्रदाय के आचार्यों ने अपनी सहजानुबोध विषयक साधना के लिए कुछ युक्तियाँ भी बतलायी हैं। इनमें से दो ऐसी हैं जिनका उल्लेख बहुधा इसके विषय में लिखे गए कई ग्रन्थों में मिलता है। प्रथम युक्ति को जापानी भाषा में “मोदो” कहते हैं। इसमें संप्रदाय के गुरु एवं शिष्य आपस में, श्रमिता के साथ, प्रश्नोत्तर करते हैं और इसी ■ के ■ अभीष्ट की सिद्धि हो जाती है। यदि कोई शिष्य, वास्तव में, ■ जिज्ञासु हो तो वह पहले से ही अपने विषय पर गंभीर

चित्तन ■ चुका रहेगा। इस कारण जब कभी वह अपने गुरु से प्रश्न करेगा तो उसके प्रश्न में ही उस गुरु की उसकी वास्तविक दशा का परिचय मिल जायगा। वह फिर उससे इस प्रकार के प्रश्नोत्तर आरंभ कर देगा जिससे शिष्य को अभीष्ट तत्व का आप बोध हो जाय। एक दूसरी युक्ति 'कोआन' नाम की ■ जो, कदाचित् उस पहली युक्ति का ही एक संक्षिप्त ■ और उसकी व्याख्या करना अत्यंत कठिन।' जैन संप्रदाय के साधकों का तो यहाँ तक कहना है कि जो बात गहरे आत्म-चित्तन द्वारा संभव नहीं वह किसी साधारण हास्य, पुकार, कंपन अथवा आघात मात्र से भी जानी जा सकती ■। किसी विकट प्रश्न के उत्तर में भी 'कोआन' की युक्ति वाले केवल 'मु' शब्द के उच्चारण मात्र से काम ले लेते हैं जिसका अर्थ 'नहीं' से अधिक नहीं। जैन की युक्तियाँ उस बारूद का सा काम करती हैं जो सामने पड़े बने पड़े में सहसा अंतराल बना देता ■। हमें उस पार की भी सूझ जाती है उनका काम विद्युत् के समान ■ एवं तत्क्षण प्रभावित कर देना है। युक्तियों का रूप संभवतः वैसा ही ■ जैसा संतों द्वारा बतलाये गए सद्गुरु के 'सबदों' का हुआ करता है और जिसकी ओर कबीर साहब आदि सभी की रचनाओं में संकेत भी किया गया है।

जापान के उक्त जोदो अथवा जोदोशिन और जैन दो ऐसे संप्रदाय हैं जिनमें उनके बौद्ध धर्म की ■ होने पर भी कतिपय अपनी विशेषताएँ हैं। उनका उस देश में बहुत अधिक प्रचार है और इसी कारण उन्हें बहुत महत्व भी दिया जाता है। किन्तु इन दोनों से भी अनेक विशेषताओं वाला वहाँ एक तीसरा ■ प्रचलित ■ जिसे, उसके प्रवर्तक के नाम पर, निचिरेन संप्रदाय की संज्ञा दी जाती है। यह संप्रदाय एक ऐसे ■ में स्थापित हुआ था, जब

आपान भी क्योटी सरकार से सम्बद्ध व्यक्तियों को पारस्परिक कलह के कारण किंचित् भी अवकाश नहीं मिलता था और जिस समय उनके ऐसे संघर्षमय जीवन में बौद्ध मठों के भिक्षु भी उनके साथ सहयोग करने लग गये थे अधिकाधिक प्रपञ्च प्रसृत बनते जा रहे थे । निचिरेन (सन् १२२२-५२ ईसवी) एक साधारण मलाह का पुत्र था, किन्तु कुशाग्र बुद्धि वाला भी था । उसने परिस्थिति को मलीमाँति पहचाना और सारे प्रचलित बौद्ध संप्रदायों के सिद्धांतों का सम्यक् रूप से अध्ययन करके उसने तत्कालीन स्थिति का सुधार करने के उद्देश्य से एक नवीन मार्ग निकाला । उसमें विचित्र धार्मिक उत्साह भरा था और सभी संप्रदायों की आलोचना करने ■ तुला ■ । इसलिए कर्मचारियों ने उसे दंडित करना चाहा, किन्तु प्रत्येक बार वह किसी न किसी प्रकार अपने को बचाता चला गया जिससे उसमें चमत्कार का आरोप होने लगा । उसने अपने उपदेशों का आधार 'सद्धर्मपुंडरीक' को बनाया और प्रचलित 'पवित्र धाम' परक सिद्धांतों के विरुद्ध इहलोक की ही महत्ता का प्रतिपादन किया । निचिरेन संप्रदाय के अनुसार ऐहिक कार्यों के ही द्वारा ■ आत्मीय सुख के भी अधिकारी बन सकते हैं । हमें किसी काल्पनिक स्वर्गभूमि के अस्तित्व में विश्वास कर किसी प्रकार की साधना करने की कोई आवश्यकता नहीं । हमें स्वार्थत्याग, आत्मोत्सर्ग, देशभक्ति, जैसे इहलौकिक उदात्त भावों के ■ कार्य में निरत रहना चाहिए जिससे प्रत्यक्ष कल्याण की संभावना है । इस संप्रदाय की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि इसका मूलस्रोत चीन अथवा कोरिया जैसे किन्हीं अन्य देशों से सम्बद्ध नहीं था ।

विष्णुत में बौद्ध धर्म ■ प्रदेश, सर्वप्रथम, उस समय हुआ था जब ईसा की पाँचवीं शताब्दी में वहाँ भारत से कुछ ऐसी पुस्तकें पहुँची थीं । किन्तु इस बात का उन दिनों वैसा प्रभाव नहीं पड़ा और, वास्तव में, उनकी उपेक्षा कर दी गयी । इस देश में बौद्ध धर्म

की अड़ जमाने का भेय, इसी कारण, यहाँ के राजा सोंगचिन् गंपो को दिया जाता है जिनका जन्म सन् ५५७ में हुआ था। इस प्रतापी नरेश ने अपनी विजय के साथ-साथ चीन एवं नेपाल, दोनों देशों की ओर से दो राजकुमारियों का भी पाणि-ग्रहण किया। उस समय तक नेपाल एवं चीन में बौद्ध धर्म भलीभाँति फैल चुका था और उसका प्रभाव वहाँ के राज-घरानों पर भी कम नहीं था। फलतः दोनों रानियों ने राजा को प्रभावित करके उन्हें बौद्ध धर्म स्वीकार करने के लिए बाध्य किया और तदुपरांत, वे इसके प्रचार-कार्य में भी कटिबद्ध हो गए। किन्तु सोंगचिन् गंपो ने जिस बौद्ध धर्म को अपनाया, वह वस्तुतः सान्निह्य बौद्ध धर्म ■ जिसमें योग-साधना एवं शैवतंत्र का पूर्ण संमिश्रण था। इसे बौद्ध धर्म कहने का प्रमुख कारण यह ■ कि इसमें असंग एवं वसुवंधु ■ प्रचारित योगाचार को विशेष महत्व दिया गया था। इन तीनों के समन्वय द्वारा इसने एक विचित्र रूप धारण कर लिया और तिब्बत के, उस समय प्रचलित, बोन धर्म ने इसे और भी विकृत कर दिया। यह बोन धर्म ■ देश में तंत्र, मंत्र, टोना, जादू आदि का भी समर्थन करता था जिनका बौद्ध धर्म में प्रवेश होते अधिक बिलंब नहीं लगा और इसको कमशः वह मार्ग स्वीकार करना पड़ गया जिसे आज तक लामा धर्म कहा जाता है।

तिब्बत के देश, नेपाल, भूटान, सिक्किम, लद्दाख और मंगोलिया के कुछ प्रदेशों तक में तीन प्रकार के बौद्ध दर्शन प्रचलित हैं। इनमें से एक तो नागाजुन के प्रसिद्ध माध्यमिक शास्त्र पर आबिठ है और इसे तिब्बत में 'उमापा' का नाम दिया गया है और दूसरे को 'महामुद्रा' कहते हैं। इस महामुद्रा को तिब्बत में 'फ्याग चेन' भी कहा जाता है। इसी प्रकार, तीसरे दर्शन 'आदियोग' को वहाँ 'जोग सचेन' का नाम दिया गया है। 'उमापा' के अनुयायियों को 'गेलुपा' कहा जाता है और वे पीली टोपी धारण करते हैं। इसे मान्यता देने वाले संप्रदाय का प्रवर्तक सोंगसापा (सन् १३५८-१४१७) थे और

यही उच्चरी तिब्बत के दलाईलामा ■ भी अपना धर्म है। 'महामुद्रा' के अनुयायियों को 'कार्मरूपा' कहते हैं। इनका सर्वप्रमुख आचार्य मिलारेपा समझा जाता है। इसी प्रकार आदियोग वाले 'निगंमापा' कहलाते ■ और ये ■ टोपी धारण किया करते हैं। इनके सर्वश्रेष्ठ आचार्य का नाम पद्मसंभव है जो तिब्बत में नाखंड से आये थे। इन्होंने तिब्बत के राजा ने अपने वहाँ स्वयं निमंत्रित किया था। इन्होंने उसी के अनुरोध से वहाँ उक्त धर्म की स्थापना सन् ७५६ में की थी। इन तीनों के अतिरिक्त एक चौथे मत अर्थात् 'सक्यपा' का भी नाम लिया जाता है। किन्तु यह वस्तुतः आदियोग वालों ■ ही एक उप-संप्रदाय है। उक्त तीनों ■ चारों का न्यूनार्थिक सम्बंध बौद्ध धर्म के साथ जुड़ा हुआ है और वे आवश्यक भी उसकी शाखाओं के रूप में प्रचलित हैं। परंतु बोन धर्म जो इस देश में इन सभी के पहले से प्रचलित है बौद्ध धर्म का वास्तविक अंग नहीं माना जा सकता। इसकी कुछ अपनी विशेषताएँ हैं जिनका प्रभाव तिब्बतीय बौद्ध धर्म पर भी पड़ गया है। बोन धर्म के अनुयायी काली टोपी धारण करते ■ ।

पद्मसंभव का आदियोग प्राचीन भारतीय साधनाओं का पूर्ण समर्थक है, जहाँ उमापा के अनुयायी उनमें सुधारों के भी पक्षपाती हैं। परंतु महामुद्रा वाले इन दोनों के बीच का मार्ग अवलंबन करते हैं और अपनी कुछ विशेषताएँ भी रखते हैं। पद्मसंभव ने जिस समय अपने आदियोग का ■ आरंभ किया उस समय बोन धर्म वालों की ओर से उनका बहुत विरोध हुआ। तिब्बत में बौद्ध धर्म अपने स्थायी रूप में उस समय ■ प्रचलित हुआ, जब वहाँ भारत से एक अन्य बौद्ध पंडित भी पहुँच गये जिनका नाम अतिश था। इन्होंने ईसा की सत्रहवीं शताब्दी में वहाँ पहुँच कर लामाओं

के गेलुग्पा वाले मत की स्थापना कर दी जिसका वहाँ पर बहुत अधिक प्रभाव पड़ा। उस काल के दो अन्य महापुरुषों के भी कारण वहाँ बौद्ध धर्म की पूरा सहयोग मिला जिनमें से मिलारेपा नाम पहले से ही आ चुका है। दूसरे का नाम 'मारपा' या जो मिलारेपा के गुरु थे और जिनकी प्रेरणा द्वारा ही कार्ग्युत्पा लोगों के संप्रदाय की स्थापना हुई थी। इनके शिष्य मिलारेपा एक अत्यंत प्रभावशाली धर्म प्रचारक हुए। उन्होंने अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से वहाँ के धार्मिक समाज नवीन स्फूर्ति ला दी। ये सन् १०३८ ईस्वी में हुए थे और सदा एक मात्र रुई का कपड़ा पहना करते थे। वे अपनी योग-सिद्धियों के लिए भी बहुत प्रसिद्ध थे। इनके द्वारा प्रवर्तित संप्रदाय का मूल सम्बंध भारतीय कुसुलिया की योग-साधना से था जिसके एक प्रमुख आचार्य सिद्ध तेलोपा थे। सिद्ध तेलोपा, दसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के आसपास, वर्तमान और प्रसिद्ध है कि उन्हें स्वर्गीय बुद्ध वा वज्रधर से महामुद्रा दर्शन की शिक्षा मिली थी जिसे उन्होंने कार्ग्युत्पा लोगों के लिए आधारशिला के रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। सिद्ध तेलोपा से यह मत सर्वप्रथम सिद्ध नारोपा को मिला या जिनसे यह फिर क्रमशः मारपा एवं मिलारेपा तक पहुँच गया 'तेलोपा और नारोपा ८४ सिद्धों में भी गिने जाते'।

अतिशुद्ध द्वारा प्रचारित मत को विकसित रूप देने का श्रेय सोंग-का-पा को दिया जाता है जिनका समय सन् ११५८ से १४१६ तक है और जिनके लिए प्रसिद्ध है कि वे पश्चिमोत्तर चीन के अमदो प्रांत के किसी 'प्याज की भूमि' से तिब्बत की ओर आये थे। उन्होंने अतिशुद्ध के अनुयायियों को फिर से संगठित करके उन्हें येरखाद के विनय की भी शिक्षा दी और उन्हें पीली टोपी का चिह्न प्रदान किया। लामाओं की परंपरा में सोंग-का-पा बड़ी उच्च श्रेणी के समझे जाते

■ और पीछे टोपी वाले उन्हें स्वयं गौतम बुद्ध के अनंतर दूसरा ■ देते हैं। इस महापुरुष ने तिब्बत ■ बौद्ध धर्म की बहुत बड़ी जाक ■ दी। इनके द्वारा प्रचलित एवं प्रचारित संप्रदाय ने वहाँ अत्यंत लोकप्रिय रूप ले लिया। बौद्ध धर्म मंगोल देश में, ईसवी सन् की तेरहवीं शताब्दी में, पहुँचा और कुबलखे खाँ के धर्मगुरु झोगोन ने वहाँ की प्रकृति-पूजा के विधानों में आवश्यक सुधारों का समावेश करके इसे बौद्ध धर्म के ■ विशिष्ट संप्रदाय का रूप दे दिया। मंगोल सम्राटों की प्रेरणा द्वारा बहुत से बौद्ध धर्म सम्बंधी महत्वपूर्ण ग्रन्थों का अनुवाद वहाँ की भाषा में किया गया और उनकी पोथियों को सुंदर कलात्मक ढंग से सजाया गया। मंगोल देश के निवासी कोकोनोर क्षेत्र एवं लासा नगर की तीर्थ-यात्रा करने के लिए बड़ी से बड़ी संख्या में आने लग गए। मंगोल देश में भी लामाओं की बड़ी प्रतिष्ठा है जो तिब्बत में है और जिस प्रकार तिब्बत के ■ धर्म का केंद्र लासा है, उसी प्रकार मंगोल देश वाले का उर्गा है।

इस प्रकार तिब्बत में बौद्ध धर्म के, गेलुगपा, काग्युत्पा, साक्यपा, निंगमापा तथा बोन्पा ■ उससे प्रभावित रूप में ही पाँच प्रमुख संप्रदाय हैं। प्रायः इनमें से किन्हीं की वाक्साधनाओं में विशेष अंतर नहीं और उन पर तांत्रिक मत का भी स्पष्ट प्रभाव पड़ चुका है। किन्तु वहाँ ■ मौतरी और योग-सम्बंधी साधनाओं का सम्बंध है, उनके विचार ■ इनमें विभिन्न स्तर कहे जा सकते हैं। तिब्बत प्रदेश ■ विविध स्थल है जहाँ पर ■ धर्मों के भी साधक, शांतिपूर्वक एकांत-साधना करने के उद्देश्य से जाते रहे। उसे, इसी कारण, कभी-कभी 'महात्माओं ■ देश' भी कहा गया है स्वयं तिब्बती लामाओं में भी बहुत से ऐसे सिद्ध हो चुके हैं जिनकी सकल साधनाओं तथा समस्कारों की दंत-कथाएँ बन गई हैं। किन्तु, उसी प्रकार, इस देश में अनेक ऐसे तांत्रिक, इंद्रजाली, टोटका-विधायक और पाखंडी भी मिलेंगे जिनकी रहस्यपूर्ण प्रक्रियाओं का कोई अंत नहीं। बौद्ध धर्म

का महायानी रूप भी यहीं पर इतना परिवर्तित हो गया है कि इसे 'लामा' धर्म की एक विशिष्ट संज्ञा ही दी जाने लगी है। इसके जो रूप लद्दाख, मंगोल देश, भूटान, सिक्किम एवं नेपाल में पाये जाते हैं, उनमें कोई मौलिक अंतर नहीं ■। केवल नेपाल के सम्बंध में कहा जा सकता है कि वहाँ पर इसे शैव संप्रदाय द्वारा बहुत अधिक प्रभावित हो जाना पड़ा है। इसके सिवाय, लगभग सौ वर्षों के इधर वहाँ पर हीनयानी वैश्ववाद का भी कुछ प्रचार हुआ है, यद्यपि उसका प्रभाव अभी तक उतना स्पष्ट नहीं दीख पड़ता। तिब्बत के लामा भी अपने पदाधिकारों की दृष्टि से या तो दलाई लामा होते हैं अथवा के ताशी ■ कहलाते हैं। इनमें से दलाई लामा वस्तुतः ईश्वरीय राजा के पद पर आसीन समझे जाते हैं। वे सत्रहवीं शताब्दी ■ निर्मित प्रसिद्ध 'पोताल' मंदिर में निवास करते हैं। ताशी लामा का कोई राजनीतिक महत्व नहीं है, किन्तु, स्वयं अमिताभ के अवतार रूप में वर्तमान समझे जाने के कारण उनके प्रति धर्म-प्राण बौद्धों की भक्ता किसी प्रकार कम नहीं रहा करती।

तिब्बत देश के बौद्ध पंडितों में अनेक अद्वितीय विद्वत्ता वाले महापुरुष हुए हैं और उन्होंने वहाँ इस धर्म ■ प्रचार बड़ी लगन से किया है। इनमें से रिन्-छेन्-मुव, चोङ्ग खप एवं लामा तारानाथ के नाम विशेष रूप से लिये जाते हैं। रिन्-छेन्-मुव सन् १२६० से १३६४ ईसवी तक वर्तमान ■ और उन्होंने ऐसे पचासों ग्रन्थों की रचना की जिनके द्वारा बौद्ध धर्म के इतिहास पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। इसके सिवाय उन्होंने दो ऐसे ग्रन्थ-संग्रहालयों की भी स्थापना की जिनमें इस विषय की अमूल्य पुस्तकें आज तक सुरक्षित चली आ रही हैं। इन संग्रहों में से एक का नाम 'स्कग्युर' वा केंजुर है जिसमें महात्मा गौतम बुद्ध के वचनों अर्थात् मूल उपदेशों का संग्रह किया गया ■। इसी प्रकार, इसके 'स्तनग्युर' वा तंजुर नामक दूसरे संग्रह में ऐसे ग्रन्थ संग्रहीत हैं जो दर्शन, काव्य, ज्योतिष, एवं

संन-भंज जैसे विषयों से भी सम्बंध रखते । चोकसप नामक बौद्ध भिक्षु ने, इसी प्रकार, सर्वत्र भ्रमण कर तथा बौद्धों के लिए महा-विहार एवं महाविद्यालयादि की स्थापना कर बौद्ध धर्म का प्रचार किया । ये सन् १३५७ से लेकर सन् १४१६ ईसवी तक वर्तमान थे । उन्होंने न केवल दार्शनिक सिद्धांतों का प्रचार किया, अपितु बौद्धों का पूरा संगठन भी किया । उन्होंने अपनी परंपरा में केवल ऐसे ही उत्तराधिकारियों के चुने जाने की व्यवस्था कर दी जो, वास्तव में योग्य हों । लामा वारानाय ■■■ जन्म सन् १३७५ में हुआ था और वे जितने गंभीर विद्वान नहीं थे, उतने बहुश्रुत । ■■■ इन्होंने बौद्ध धर्म के इतिहास पर महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखा । इनकी ऐतिहासिक रचनाओं में दंत-कथाओं एवं अनुभूतियों से ही अधिक सहायता ली गयी है और उनमें चमत्कारों की भी भरमार है । परंतु, उनके समय में वहाँ इसके अधिक कर पाने की आशा भी नहीं की जा सकती थी ।

एक अनुभूति के अनुसार खोतन राज्य की स्थापना, सर्वप्रथम सम्राट् अशोक के वहाँ आयमन के उपलक्ष्य में हुई थी । उसी अवसर पर उन्हें किसी एक पुत्र की प्राप्ति भी हुई जिसका नाम 'कुस्तन' ■■■ गया था और इन शब्द का अर्थ 'पृथ्वी का स्तन' भी बतलाया जाता है । किंतु इन बातों के लिए कोई ऐतिहासिक आधार भी उपलब्ध नहीं है और एक अन्य स्रोत के अनुसार अनुमान किया जाता है कि इसकी स्थापना, किसी तुलर कील (काश्मीर) के निकटवर्ती क्षेत्र ■■■ नाग महायुद्ध द्वारा हुई होगी । नाम महायुद्ध का नाम तुलर अथवा तुलर भी था और उसे, सम्राट् अशोक के पहले ही, किसी बौद्ध धर्म प्रचारक के प्रभाव ■■■ आ जाना पड़ा था । इस काश्मीरी बौद्ध तुलर के नाम पर खोतन में एक साम्प्रदायिक वर्ग के भी प्रतिष्ठित हो जाने का पता चलता है जो उसके समय से पीछे की भी घटना हो सकती है । खोतन की कतिपय किंवदंतियों के अनुसार वहाँ बौद्ध धर्म का प्रवेश, ईसा पूर्व की प्रथम शताब्दी के पहले, नहीं

हुआ होगा। फ्रादियान, जो इस देश की ओर ईसवी सन् की चौथी शताब्दी के अंत में आया था, बतलाता है कि वहाँ लगभग ४००० ईनियानी बौद्ध वर्तमान थे और वे लोग भारतीय भाषा का भी व्यवहार करते थे। बौद्ध धर्म का प्रचार, सर्वप्रथम, वहाँ किसी वैरोचन नामक भ्रमण द्वारा, आरंभ किया गया था जिसने वहाँ कई मठ भी स्थापित कराये थे। फ्रादियान के समय तक वहाँ बहुत से महायानी बौद्ध भी पाये जाने लगे होंगे। 'गोभुंग महात्मा' के आधार पर कहा जाता है कि आठवीं या नवीं शताब्दी तक "महायानियों की संख्या जहाँ किसी बोके के सारे शरीर ■ बालों जितनी थी, वहाँ अभ्यसनी धर्मों के अनुयायी उस पशु के केवल कानों के ही बालों की संख्या में गिने जा सकते थे।" गोभुंग-महात्म्य वहाँ के एक तीर्थ-स्थान के विषय में लिखा गया था और इसे 'गोभुज्ज-व्याकरण' का नाम दिया गया था जिसकी भाषा संस्कृत थी। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य ग्रन्थ जोतनी भाषा में भी थे।^१

भारत के पश्चिम वाले देशों में भी बौद्ध धर्म ■ प्रवेश लगभग उसी समय हुआ होगा ■ वह जोतन में फैलने लगा था। सम्राट् अशोक ने कुछ दूर तक वहाँ अपने शिला-लेखों की व्यवस्था की थी और अभ्यस बहुत से धर्म-प्रचारकों को भी भेजा था। फलतः अस्स-गानिस्तान तथा उसके उत्तर के कुछ भूखंडों में हमें अभी ■ तक बहुत से बौद्ध अवशेष मिलते हैं। इन प्रदेशों में अनेक ऐसे स्थान ■ जिनके नाम ■ हमें उन पर पुराने बौद्ध प्रभाव का स्मरण दिलाते हैं। उनमें केवल न्यूनाधिक परिवर्तन मात्र हो गया ■। इसके विषय वहाँ की विविध कलाएँ भी, जिनका प्रादुर्भाव, उन देशों पर बौद्ध प्रभाव

१ एक० डब्ल्यू० टामस : इंडियनिजम-वेड इट्स एक्सप्लेन, पृ०

के पङ्कने पर हुआ था, इस बात की साक्ष्य कही जा सकती है।^१ इसलाम धर्म का उधर प्रचार हो जाने पर जिस समय उसके सूफ़ी सम्प्रदाय ■■■ भी वहाँ प्रवेश हुआ, उस समय तक बौद्ध धर्म वहाँ लुप्त नहीं हो गया था। बहुत से इसके अनुयायी वस्त्र-चक्रों से अपने प्राण बचा कर कहीं न कहीं लुके-छिपे रहा करते थे। ऐसा ही एक परिवार उन वस्त्रकों का था जिनका प्रवेश, किसी न किसी प्रकार, खलीफ़ा हारून रशीद के दरबार में हो गया था। 'वस्त्रक' शब्द अरबी में भारतीय 'परमक' के स्थान पर व्यवहृत होता है। कहा जाता है कि यह प्रयोग बौद्ध विहारों के महापुरुष के लिए हुआ करता था।^२ वस्त्रकों के कारण, उस दरबार में, धर्म, संस्कृति एवं साहित्य के प्रति विशेष आकर्षण उत्पन्न हो गया था। बौद्ध धर्म का प्रभाव स्वयं सूफ़ी सम्प्रदाय के सिद्धांतों एवं साधनाओं पर भी कम नहीं ■■■ और इस बात को इसके कई उन उप-सम्प्रदायों की विशेषताओं द्वारा भी प्रमाणित किया जा सकता है जो पुराने बौद्ध क्षेत्रों में आकर स्थापित किये गए थे। बौद्धों के ध्यान योग, उनकी गुरु-शिष्य परंपरा, उनका भट-व्यवस्था, आचार्यों ■■■ संयत जीवन प्रचार-प्रवृत्ति एवं अन्य कई ऐसी छोटी-मोटी बातों के लिए भी सूफ़ी लोग उनके श्रुत्यों कहे जा सकते हैं।

प्राचीन समय में भारत से सुदूर पश्चिम का खोर सीरिया, मिथ एवं यूनान तथा सुदूर दक्षिण-पूर्व की श्रीर मुमात्रा, जावा आदि द्वीपों तक बौद्ध धर्म के किसी न किसी प्रकार पहुँचने एवं प्रचलित होने का पता चलता

१ डॉ० स्टेन का कहना है कि फ़ारस के सीस्तान प्रांत के हेलमंद नामक कच्छ प्रदेशों में उन्हें एक ऐसा बौद्ध मठ मिला था जिसमें सुरक्षित चित्रों से यूनानी एवं बौद्ध कलाओं के उस मिश्रित ■■■ पता चलता था जो भारत के पश्चिमोत्तर खोर से लेकर मध्य एशिया तथा सुदूर पूर्व को एक सूत्र में बाँध देता है। हिंदुइज्म ऐंड बुद्धिज्म, पृ० १६९

२ जे० ए० सुमान : सूफ़ीज्म इट्स लेन्ड्स ऐंड आइस, पृ० १६३

है, किन्तु इनके विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं। साहित्यान को सन् ४१८ ईसवी में जावा द्वीप के अंतर्गत, एक भी बौद्ध नहीं मिला था, किन्तु पीछे के उल्लेखों में वहाँ भारतीय महायान का होना सिद्ध है। सन् ७७८ ईसवी के कलसन वाले नागरी शिला-लेख में महायान सम्प्रदाय के एक मठ एवं तारा के एक मंदिर की भी चर्चा पायी जाती है। वहाँ का सर्वप्रथम स्मारक चिह्न जो प्रबंधन में वर्तमान ■ वह भी उक्त तारा ■ ही लिए निर्मित है। जावा द्वीप में महायान सम्बंधी प्रचार-साहित्य की भी कमी नहीं, वहाँ वाले इस सम्प्रदाय की एक यह विशेषता ■ कि ईसा की तेरहवीं शताब्दी तक यह वहाँ के प्रचलित हिंदूधर्म के साथ बहुत कुछ मिल-जुल जाता है। यहाँ पर ■ एवं शिव लगभग एक से बन जाते हैं और उनके एक विचित्र संमिलित रूप का विकास होने लगता है। ईस्तिग (सन् १८८८-९५) ■ अनुसार उधर के अन्य कई द्वीपों में 'मूल सर्वास्तिवाद' ■ प्रचार अधिक था और "मलयु के अतिरिक्त अन्यत्र" हीनयान ही प्रचलित था।^१ जान पड़ता है कि पीछे के मुसलिम प्रभाव ने इन देशों के बौद्ध अवशेषों को नष्ट हो जाने में पूरी सहायता की। पश्चिम के इसलामी देशों में बौद्ध धर्म एवं संस्कृति को निर्मूल करने में कुछ अधिक सज्जता प्रदर्शित की गयी और बौद्ध मूर्तियों एवं विहारों ■ ध्वंस कर देना कर्तव्य-सा बन गया। गौतम बुद्ध की मूर्तियों के ही नाम पर 'बुद्ध' शब्द से 'भुत' का निर्माण हो गया जो पीछे सभी प्रकार की प्रतिमाओं के लिए प्रयोग में आने लगा। अनेक मुसलिम सुलतान अपनी 'भुत-शिकनी' अवस्था मूर्ति-ध्वंस के कारण अपने सहचर्मियों में विख्यात हो गये। बौद्ध धर्म को अपना अस्तित्व सुरक्षित रखने में कई अवसरों पर ईसाई धर्म का भी सामना करना पड़ा, किन्तु इससे उसे अधिक क्षति नहीं पहुँची। ईसाई देशों में वह केवल, इसी कारण, न प्रचलित हो सका कि उसे वहाँ चीन, तिब्बत आदि देशों की भाँति

अच्छे प्रचारक नहीं मिल सके । भारतीय बौद्ध शासकों अथवा पंडितों का उधर संपर्क भी नहीं रहा, न बौद्ध यात्रियों का ज्ञाना-जाना ही उस प्रकार हो सका । आधुनिक युग में जब आवागमन को विशेष सुविधाएँ हो गईं ■ और प्रचार के साधन भी बढ़ गये हैं स्थिति बहुत कुछ सुधर गयी है । एशिया के दक्षिणी बौद्ध देशों से जहाँ इस धर्म के प्रचारक पश्चिम की ओर जाने लगे हैं, वहाँ जापान तथा चीन से यह प्रशान्त सागर के पार भी बढ़ जाना चाहता है ।

एशिया के देशों ■ से कदाचित्, चीन ही ऐसा है जहाँ बौद्ध धर्म केवल जीवित मात्र है, प्रगतिशील नहीं है; अन्यथा अन्य सब कहीं इसमें नव विकास के लक्षण दोल पड़ते हैं और वहाँ ■ बौद्ध इसे नूतन धातावरण के अनुरूप सुगमस्थित करने में प्रयत्नशील हैं । चीन में इस समय कम्युनिस्ट राज्य है जिसे बर्मेतर विषयों के ही प्रति अधिक रुचि है और वह, अपने किसी ■ पूर्व परिचित धर्म की ओर ■ मायः उदासीन है । जापान में, चीन की अपेक्षा, बौद्ध धर्म अधिक ध्यान आकृष्ट करता ■ । वहाँ के निवासी इसके सामने अमेरिकी मिशनरों तक की उपेक्षा कर रहे हैं । इंदोचीन को तथा कोरिया को भी अपने यहाँ के आपसी युद्धों से ही अवकाश नहीं है और इन देशों की वार्मिक स्थिति ढाँवाँडोल कही जा सकती है । किन्तु रयाम के निवासियों में बौद्ध धर्म के प्रति विशेष निष्ठा दोल पड़ती है और वे अपने यहाँ से धर्म-प्रचारकों तक के भेजने ■ प्रबंध किया करते हैं । लंका द्वीप में ईसाई धर्म ने इधर बहुत प्रगति कर ली थी, किन्तु सिंहली जनता अपने इस पुराने धर्म के प्रति अब अधिक जागरूक हो उठी है । बर्मा में कम्युनिस्ट आक्रमणों के होते रहने तथा विभिन्न प्रांतों अथवा जातियों के लड़ते-झिड़ते रहने से मो कुछ अव्यवस्था अवश्य आ गई है । फिर भी वहाँ की साधारण जनता लंका द्वीप वाले लोगों की ही भाँति बौद्ध धर्मी हैं और इस ओर किसी प्रत्यक्ष परिवर्तन की आशंका नहीं है । भारतवर्ष, इस धर्म को जन्मभूमि होता हुआ भी, लगभग

भारतीय शताब्दी से, इसका बहिष्कार कर चुका था। परंतु, प्रसिद्ध सिंहली बौद्ध विद्वान अनागरिक धर्मपाल जैसे एकान्तिनिष्ठ साधकों के प्रयत्नों द्वारा, इसे भी उसके पुनरुत्थान की विज्ञा हो गयी है। अनागरिक धर्मपाल की 'महासोधि सोसाइटी' ने यहाँ पर बहुत कुछ काम किया है और उसने इसके पड़ोसी नेपाल राज्य तक में प्रचार-कार्य को आगे बढ़ाया है। इधर केवल तिब्बत और मंगोलिया ही ऐसे दो बौद्ध देश हैं जहाँ किसी विशेष परिवर्तन का स्पष्ट पता नहीं चलता। एशिया तथा इंडोनेशिया के मुसलिम राज्यों के अंतर्गत बौद्ध धर्म बहुत अधिक दब चुका है और सोवियत के अंग बने प्रदेशों में भी इसकी प्राप्ति के वैसे लक्षण नहीं दीख पड़ते।

इस बात के लिए निश्चित प्रमाणों का अभाव कि बौद्ध धर्म ने पश्चात्त्य देशों में ठीक किस समय और किस प्रकार प्रवेश किया था। केवल इतना पता चलता कि इसके धर्म-ग्रन्थों का अनुवाद यूरोपीय भाषाओं में बहुत दिनों से होता आ रहा है। बुनों, हासन, राकहिल, ओल्डनबर्ग, बील, माक्समूलर एवं राइस डेविड् आदि कतिपय ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने इसकी ओर विशेष ध्यान दिया। इनके उत्तम प्रयासों द्वारा उन्नीसवीं शताब्दी के अंत तक, यह धर्म उच्च दर्ग के लोगों के अध्ययन के लिए अत्यंत महत्वपूर्ण विषय बन गया। फिर बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दिनों से इसके धार्मिक रूप को अपनाने की भी प्रवृत्ति जगने लगी। जीकशन एवं पेन जैसे अंग्रेजों ने इसके लिए अपना प्रचार-कार्य आरंभ किया तथा जे० एफ० कैचनी ने स्वयं 'भिक्षु शीलाचार' बनकर इसके प्रसार का आदालन चलाया। ऐसे लोगों ने, इस धर्म को सचके लिए परिचित बनाने के उद्देश्य से कई संस्थाएँ खोलीं, पुस्तकें लिखीं और पत्रादि का भी प्रकाशन किया और इनके इन प्रयत्नों में बाहर की बौद्ध सोसाइटियों तथा अन्य प्रकार की प्रचार-सभाओं का भी सहयोग प्राप्त होने लगा। इस प्रचार-कार्य में थियासोफिकल सोसाइटी का

भी कम हाथ नहीं रहा और उसकी प्रसिद्ध उपाधिका मैडेम ब्लैवेट्स्की ने इसकी [] तिब्बतीय साधनाओं का स्वयं अभ्यास भी किया। उन देशों में फिर क्रमशः विपुल बौद्ध साहित्य की रचना होती चली गई और वहाँ के बहुत से लोगों ने बौद्ध धर्म का अपना पय-प्रदर्शक भी बना लिया।

फ्रांस देश में प्रचलित होने वाले बौद्ध धर्म की एक यह विशेषता थी कि वहाँ पर [] केवल मध्यवर्गीय लोगों तक ही सीमित नहीं रहा। वहाँ के उच्चकोटि वाले अत्यंत प्रसिद्ध व्यक्तियों ने भी इसके प्रचार-कार्य में भाग लिया और उन्होंने हंदोचीन के बेरवाद के साथ अपना विशेष सम्बंध रखा। इसी [] वहाँ [] कतिपय विद्वानों ने तिब्बतीय बौद्ध धर्म के [] और भी कम ध्यान नहीं दिया। जर्मनी में बौद्ध धर्म का अधिक प्रचार प्रथम महायुद्ध के अनंतर ही हो सका और डाक्टर [] डाइल्के ने वहाँ के बर्लिन नगर में एक बौद्ध विहार की भी स्थापना की। इसी प्रकार, संभवतः मुंबो की प्रतिक्रिया के ही [] में, हार्लैंड, नेलबियम, फिनलैंड, स्वीडेन एवं स्विट्जरलैंड में भी बौद्ध धर्म के अनुयायियों की संख्या बढ़ी संयुक्त-राज्य (अमेरिका) [] इसका प्रचार पहले, उस देश के पश्चिमी तट-वर्ती जापानियों के कारण आरंभ हुआ। फलतः यूरोपीय देशों के बौद्ध धर्म का रूप वहाँ अधिकतर हीनयानी रहा, वहाँ अमेरिका से यह विशेषतः महायानी वेष्ट में दीख पड़ा। वहाँ उसके उन श्रंगों का ही अधिक प्रचार हुआ जो महायान के बोदो एवं जैन संप्रदायों के प्रमुख सिद्धांतों एवं साधनाओं पर आधारित हैं। पारश्चात्य देशों में प्रचलित होने वाले आधुनिक बौद्ध धर्म का रूप, वास्तव में, न तो विशुद्ध हीनयानी है, न वह केवल महायान पर ही आधारित है। सामायिक प्राचीन ग्रन्थों के अध्ययन तथा उनके आलोचनात्मक अनुशीलन के आधार पर उसके मौलिक सिद्धांतों पर गंभीर विचार किया [] रहा है। इसके परिणाम स्वरूप, [] ऐसे व्यापक नियम

निर्धारित किये जा रहे हैं जिनसे विश्व-कल्याण सर्वथा आधुनिक दृष्टि से भी, संभव जान पड़े। कुछ ऐसे ही विचारों से प्रेरित होकर गियोसोफिकल सोसाइटी के प्रेसिडेंट कर्नल श्रलकॉट ने, सन् १८९१ ईसवी में, ऐसे १४ नियम बनाये थे जो बौद्ध धर्म के प्रत्येक संप्रदाय अथवा उप-संप्रदाय को भी लागू हो सकें और जिन्हें बहुत से बौद्ध देशों ने पसंद भी किया था। फिर सन् १९४५ ईसवी में किसमत हम्फ्रीज़ ने, लंदन की 'बुद्धिष्ट सोसाइटी' के आग्रह पर, १२ ऐसे ही नियमों की एक पृथक् सूची तैयार की। हम्फ्रीज़ का तो यहाँ तक विश्वास है कि, इस प्रकार, भविष्य में एक ऐसे 'नवयान' का उदय होने जा रहा है जिसमें सभी विचार-स्रोतों का सम्मिश्रण हो जायगा।^१





Cal-
1/3/2/3/4

**Central Archaeological Library,
NEW DELHI.**

Call No. 901.0954/Dev - 10392

Author— Devraj.

Title— Bhāratīya saṃskṛti.

Borrower No.

Date of Issue

Date of Return

"A book that is shut is but a block"

CENTRAL ARCHAEOLOGICAL LIBRARY
GOVT. OF INDIA
Department of Archaeology
NEW DELHI.

Please help us to keep the book
clean and moving.